अध्याय: प्रथम

भारतीय नवजागरण: आदिवासी और विस्थापन

१.१ भारतीय नवजागरण के अन्तर्विरोध

आधुनिक भारतीय नवजागरण के बरक्स हिन्दी नवजागरण का सवाल उठाने और हिन्दी क्षेत्र के विद्वानों के बीच उसे चर्चा में लाने का श्रेय डा• रामविलास शर्मा को है। उनकी किताब 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' (१९७७ई•) के प्रकाशन के साथ हिन्दी नवजागरण की चर्चा, हिन्दी नवजागरण की विशिष्ट वैमनस्य और विरोध के, वह बदस्तूर जारी है। अपनी उपर्युक्त किताब की भूमिका में डा• शर्मा ने हिन्दी नवजागरण की अपनी बात को, उसके पक्ष में वजनदार तर्क प्रस्तुत करते हुए पेश किया था। इस हिन्दी नवजागरण को भारतीय नवजागरण विशेषतः बंगाल, गुजरात और अन्य प्रदेशों के नवजागरण से अलग और विशिष्ट कहा था। बंगाल, गुजरात और दूसरे प्रदेशों के नवजागरण से हिन्दी नवजागरण के चरित्र का वैशिष्ट्य निरूपित करते हुए उन्होंने हिन्दी नवजागरण का उत्स, उसका गोमुख सन् १८५७ ई• के पहले स्वाधीनता संग्राम में देखा था एवं आगे के भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग में उसके दूसरे और तीसरे चरणों की स्थिति बताई थी। हिन्दी नवजागरण की इस यात्रा को अगले चरणों तक न पहुँचाते हुए उन्होंने १९वीं शताब्दी उत्तराद्र्व के भारतीय नवजागरण या बंगाल, गुजरात और

दूसरे प्रदेशों के नवजागरण से उसकी जिस विशिष्टता चरित्र को प्रस्तुत किया था, उसके पीछे उनके अपने कुछ तर्क तथा स्थापनाएँ थी। डा॰ रामविलास शर्मा के शब्दों में ही इस चर्चा का जायजा लें तो बेहतर होगा -

''हिन्दी प्रदेश में नवजागरण १८५७ ई॰ के स्वाधीनता संग्राम से शुरू होता है। इस स्वाधीनता संग्राम की पहली विशेषता यह है कि यह सारे देश की एकता को ध्यान में रखकर चलाया गया था।......इस संग्राम की दूसरी विशेषता यह है कि राज्य सत्ता की मूल समस्या सामन्तों के हित में नहीं जनता के हित में हल की गई थी।...........इस संग्राम की तीसरी विशेषता यह है कि अंग्रेजों ने जमींदारों और साहूकारों को यहाँ भी नए अधिकार दिए थे, जहाँ भी किसानों के विरूद्ध इन शोषकों के पक्ष में उन्होंने फैसले किए थे, वहाँ भारतीय सेना का प्रभुत्व कायम होते ही अथवा अंग्रेजों का प्रभुत्व खत्म होते ही जनता ने अंग्रेजों की कायम हुयी व्यवस्था उलट दी।........ इस संग्राम की चैथी विशेषता यह है कि इसका नेतृत्व उन किसानों ने किया जो फौज में सिपाहियों और सूबेदारों के रूप में काम कर रहे थे।..........इस संग्राम की पाँचवीं विशेषता इसका असाम्प्रदायिक राष्ट्रीय रूप है।.......... इस संग्राम की छठीं विशेषता यह है कि यह संग्राम हिन्दी भाषी प्रदेश में चलाया गया।.........सन् ५७ का स्वाधीनता संग्राम हमारा जातीय संग्राम था, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह

है कि जितने लोकगीत विभिन्न जनपदों में हमारे यहाँ रचे गए, उतने अन्य प्रदेशों में मिलाकर भी नहीं रचे गऐ।''

''गदर-सन् ५७ का स्वाधीनता संग्राम हिन्दी प्रदेश के नवजागरण की पहली मंजिल है। दूसरी मंजिल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग है।''

''१८५७ का संग्राम हमारा जातीय संग्राम है और वह भारत का राष्ट्रीय संग्राम भी है। उसका असर सारे देश पर हुआ, हिन्दी भाषी प्रदेश पर सबसे ज्यादा हुआ।''

''हिन्दी नवजागरण का तीसरा चरण महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल है। सन् १९०० में 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हुआ और सन् १९२०में द्विवेदी जी उससे अलग हुए। इन दो दशकों की अवधि को द्विवेदी युग कहा जा सकता है। इस युग की सही पहचान तभी हो सकती है, जब हम एक तरफ गदर और भारतेन्दु युग से उसका सम्बन्ध पहचाने, दूसरी तरफ छायावादी युग विशेष रूप से निराला के साहित्य से उसके सम्बन्ध पर ध्यान दे।'' और अन्त में -

''भारत के राष्ट्रीयता का सम्बन्ध सामान्यतः राजा राममोहन राय से जोड़ा जाता है। हो सकता है बंगाल के लिए यह सही हो। आवश्यक नहीं कि हर प्रदेश में वैसी ही प्रक्रिया घटित हुई हो। द्विवेदी जी अंग्रेजी

की शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रबल विरोधी थे। वे बुद्धिवाद और वैज्ञानिक विचार-पद्धति के समर्थक थे और रहस्यवाद के विरोधी थे। वे भारत के उद्योगीकरण के पक्षपाती थे। चरखे-करघे के आधार पर भारतीय अर्थतन्त्र पुराने ढंग से गठित हो, इसके वे कायल न थे उनके लेखन के अध्ययन से विदित होता है कि हिन्दी नवजागरण की अपनी विशेषताएँ हैं। यह बंगाल या गुजरात के नवजागरण से भिन्न है। ये विशेषताएँ भारतेन्दु युग में भी मिलती हैं। द्विवेदी जी की युगान्तकारी भूमिका यह है कि उन्होने वैज्ञानिक ढंग से उनके समस्याओं का विवेचन गहराई से किया। छायावादी साहित्य द्विवेदी युग के प्रति विद्रोह का साहित्य माना जाता है। थोड़ी देर के लिए कलात्मक साहित्य छोड़कर छायावादी कवियों की विचारधारा पर ध्यान दीजिए। निराला ने अंग्रेजी राज, जमींदारी प्रथा...... आदि-आदि पर जो कुछ लिखा है, उस पर ध्यान दीजिए तो पता चलेगा की हिन्दी नवजागरण के सन्दर्भ में निराला का यह लेखन महावीर प्रसाद द्विवेदी के कार्य की ही अगली कड़ी है।''

हिन्दी नवजागरण के बारे में संक्षेप और सूत्र रूप में यही डा॰ रामविलास शर्मा का मुख्य अभिमत है जिसे महावीर प्रसाद द्विवेदी के कृतित्व और उनके सम्पादन में प्रकाशित होने वाली 'सरस्वती' पत्रिका के विविध लेखों के हवाले से डा॰ शर्मा ने पुस्तक के मुख्य भाग में विशद और पुष्ट किया है। हिन्दी नवजागरण की अपनी चर्चा में सन् १८५७ ई॰

के पहले स्वाधीनता-संग्राम की विशेषताओं का जो उल्लेख उन्होंने किया है, वह इस बात को सिद्ध करने के लिए कि इस हिन्दी नवजागरण की अन्तर्वस्तु का सन् १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम के लक्ष्यों और उद्देश्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, कि इसी नाते हिन्दी नवजागरण बंगाल, गुजरात तथा भारत के दूसरे प्रदेशों के नवजागरण से अपनी अलग अहमियत सूचित करता है। १८५७ ई• का यह स्वाधीनता संग्राम हिन्दी नवजागरण की पहली मंजिल ही नहीं, उसका उत्स, उसका गोमुख भी है।

हिन्दी नवजागरण या भारतीय नवजागरण की बात को थोड़ी देर के लिए मुल्तवी कर सन् १८५७ ई• के इस स्वाधीनता-संग्राम पर विचार किया जाए।

सन् १८५७ ई• के स्वाधीनता संग्राम के बारे में डाॅ• राम विलास शर्मा के विचार और उनकी स्थापनाएँ प्रायः तर्कपुष्ट है। यह संग्राम हिन्दी प्रदेश में लड़ा गया, यह संग्राम गैर-साम्प्रदायिक मनोभावना का उत्तम उदाहरण है, इस संग्राम के नेता जो भी हो, फैसले अधिकांशतः जनता के हित में लिये गए तथा इस संग्राम और इसके नेताओं को विषय बनाकर हिन्दी भाषी प्रदेश के विभिन्न जनपदों में बड़ी संख्या में लोकगीत और लोक-आख्यान रचे गए, ये सारी बातें विवाद से परे हैं; और सच हैं। दिक्कत तब होती है जब डाॅ• शर्मा हिन्दी नवजागरण की अपनी परिकल्पना से इस स्वाधीनता संग्राम का सीधा सम्बन्ध स्थापित

करते हैं, उसे हिन्दी नवजागरण का उत्स, उसकी पहली मंजिल के रूप में विज्ञापित करते हैं, तथा हिन्दी नवजागरण को शेष भारत के नवजागरण से काटते नहीं तो, उससे विशिष्ट जरूर बताते हैं।

१८५७ ई• का पहला स्वाधीनता-संग्राम भी १९वीं सदी उत्तरार्द्ध की घटना है, और जिसे बंगाल रेनेसां या कालान्तर में भारतीय नवजागरण कहा गया, उसका सम्बन्ध भी १९वीं सदी उत्तरार्द्ध से ही है। एक ही काल-विशेष में सामने आने वाली ये घटनाएँ राष्ट्रहित के बुनियादी मुद्दे पर काफी कुछ समान होते हुए भी अपने लक्ष्यों, उद्देश्यों, अन्तर्निहित सोच और वर्ग आधार तथा सामाजिक आधार में एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं। समानता के साथ-साथ हमें उनके इस फर्क को विशेष रूप से ध्यान में रखने की जरूरत है, ताकि हम दोनों को गड्डमड्ड करने के नाते उपजे गलत निष्कर्षो से बच सकें।

मसलन, सन् १८५७ ई• के स्वाधनीता-संग्राम के फैसले भले ही जनता के हित में लिए गए हों या व्यापक राष्ट्रहित में लिए गए हों, उसका नेतृत्व सामन्तों ने किया था। इस स्वाधीनता संग्राम के एजेंडे के शीर्ष पर जो संकल्प विद्यमान था, वह था भारत से अंग्रेजों की राजसत्ता का सम्पूर्णतः उन्मूलन और दिल्ली के तख्त पर मुगलों के वारिस बहादुर शाह जफर को फिर से बिठाना। अपनी-अपनी खोई गद्दी की बहाली के लिए सामन्तों ने अंग्रेजों से सशस्त्र संग्राम लड़ा और चूँकि

अंग्रेजी फौज के बागी सिपाहियों में अधिकांशतः उन किसानों के बेटे थे जो अंग्रेजों द्वारा स्थापित नए भूमि तन्त्र के तहत भयानक शोषण और यातना के शिकार थे, अतएव इन बागियों किसानों एवं सामान्य जनता के इस संग्राम में शिरकत की और उसके नेतृत्व को अपने हित और हक में फैसले लेने को विवश किया जो बात हम यहाँ जोर देकर कहना चाहते हैं वह यह है कि इस संग्राम का एकमात्र और मुख्य लक्ष्य अंग्रेजों की राजसत्ता का उन्मूलन संग्राम सफल हो जाता तो भारत का राजनीतिक-सामाजिक तन्त्र कैसा और क्या होता, इसका कुछ अनुमान तो गदर के अखबारों, पोस्टरों तथा घोषणापत्र और घोषणाओं से होता है, किन्तु सम्पूर्ण नक्शा सामने नहीं आता। इनता सर्वमान्य है कि इस संग्राम के पीछे सामन्तवर्ग के अपने स्वार्थ उनकी क्षति से उपजा उनका ही आक्रोश नहीं था, इसके पीछे अंग्रेजों के दमनकारी राज के अंसख्य काले-कारनामें थे, साधारण जनता, विशेषतः किसानों का शोषण था और इस शोषण से उपजा साधारण जनता का आक्रोश और विक्षोभ भी कहना न होगा कि सामन्ती नेतृत्व की पराजय के बाद भी काफी अर्से तक गाँवों की जनता ने इस संग्राम को चलाया और अंग्रेजों के दाँत खट्टे किये।

इसके विपरीत जिसे भारतीय नवजागरण कहा जाता है उसके लक्ष्यों और उद्देश्यों में अंग्रेजों की राजनीतिक सत्ता की समाप्ति जैसा कोई भी राजनीतिक उद्देश्य नहीं था। १८५७ ई• के स्वाधीनता संग्राम के

विपरीत, जिसका राजनीतिक चरित्र था, भारतीय नवजागरण का स्वरूप और चरित्र मुख्यतः सामाजिक और सांस्कृतिक था। अपवादों को छोड़कर इस नवजागरण के सूत्रधार और प्रवर्तक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त विश्व के दूसरे देशों के घटनाक्रम से वाकिफ भारतीय बौद्धिक थे, जो विश्व के दूसरे देशों की संगति में भारत की औद्योगिक प्रगति के आकांक्षी थे, वैश्विक ज्ञान-विज्ञान से लैस एक नए भारत के स्पप्नद्रष्टा थे। अंग्रेजों द्वारा भारत के होने वाले आर्थिक शोषण एवं प्रशासनिक स्वैराचार के प्रति वे जागरूक थे, अंग्रेजों द्वारा भारत के अतीत, उसके इतिहास तथा संस्कृति की जो विकृत व्याख्याएँ की गई थी, उसके फलस्वरूप भारतीय मानस में पैठी हीनता ग्रन्थि का भी उन्हें फलस्वरूप भारतीय मानस में अपनी अस्मिता एवं अपने स्वत्व की पुनः प्रतिष्ठा हेतु भी सचेष्ट और सजग थे, किन्तु कहीं उनके मन में यह भोला विश्वास भी था कि भारत का आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण अंग्रेजों के राज्य में ही सम्भव है, अतएव, ब्रिटिश प्रशासन की दुर्नीतियों की आलोचना करते हुए भी, उनके विकृत मंसूबों के प्रति जागरूक रहते हुए भी उन्होंने अंग्रेजी राजसत्ता की समाप्ति का राजनीतिक कार्यभार न लेकर भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक संस्कार का व्रत लिया। पश्चिम के अग्रगामी चिन्तन से आलोकित एक अभिनव वैज्ञानिक मानसिकता की माँग करते हुए विवेकवाद पर आधारित समाज एवं धर्म की पुर्नव्याख्या के जरिए उन्होंने भारत की परम्परागत सामाजिक-धार्मिक छवि को समय के अनुरूप एक नये साँचे में प्रयास किए। अन्ध आस्थाओं,

मृत मूल्यों और आदर्शों का प्रतिकार करते हुए परम्परागत धर्म और समाज व्यवस्था को मानवीय, न्यायसंगत और उदार रूप देने का आग्रह किया। उनकी आकांक्षा थी कि श्रेष्ठ को सही से भी ग्रहण करते हुए एवं निकृष्ट कहीं का भी हो, उसका परित्याग करते हुए भारत वैश्विक ज्ञान-विज्ञान में पारंगत होकर आने वाले समय में विश्व के दूसरे जाग्रत देशों के साथ कदम मिलाकर चले। आधुनिक भारतीय नवजागरण का लक्ष्य भारत का सामाजिक सांस्कृतिक अभ्युत्थान था, एक नए और आधुनिक भारत का निर्माण था, जो जड़ परम्पराओं और रूढ़ियों से मुक्त वैज्ञानिक मानसिकता एवं विवेकपुष्ट आचरण का सम्बल लेकर नई ऊर्जा तथा शक्ति के साथ सामने आ सके। हम यह स्वीकार करते हैं कि इस नवजागरण का रूप विचार तथा आचरण दोनों स्तरों, पर, सब जगह समरस नहीं रहा, कि इसके अपने अन्तर्विरोध भी हैं, किन्तु जिसे नवजागरण की सकारात्मक देन या विरासत माना जाता है, वह वही है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

डाॅ• रामविलास शर्मा ने १८५७ ई• के संग्राम को हिन्दी जाति का अपना जातीय संग्राम बताते हुए और हिन्दी नवजागरण की पहली मंजिल के रूप में उसका जिक्र करते हुए यह तो कहा कि हिन्दी प्रदेश के जनपदों में उसे लेकर बड़ी संख्या में लोकगीतों की रचना हुई, किन्तु इस सवाल का कोई जवाब नही दिया कि हिन्दी भाषी प्रदेश के शिष्ट कहे जाने

वाले साहित्य में इस संग्राम और उसके नेताओं का कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता, और यदि मिलता भी है तो उसकी कठोर निन्दा या आलोचना के रूप में। इस संग्राम का ऐसा ही उल्लेख की दूसरी भाषाओं के उस समय के शिष्ट साहित्य में है अर्थात् नकारात्मक रूप में। आखिर ऐसा क्यों है? भारतेन्दु और द्विवेदी युग को डाॅ• शर्मा ने हिन्दी नवजागरण की दूसरी और तीसरी मंजिल कहा है, किन्तु इन युगों की रचनाशीलता में भी, स्वतः भारतेन्दु और द्विवेदी जी की रचनाओं में यह संग्रह नदारद क्यों है, या फिर इसकी आलोचना क्यों है, अंग्रेजों की राजनीतिक सत्ता के उन्मूलन की आवाज क्यों नहीं है, अंग्रेजों की राजसत्ता के अन्तर्गत ही भारत की प्रगति और विकास की सदिच्छाएँ क्यों हैं? ये जरूरी सवाल हैं और इनका सन्तोषजनक उत्तर पाए बिना भारतीय नवजागरण को या हिन्दी नवजागरण को १८५७ ई• के इस स्वाधीनता संग्राम से नहीं जोड़ा जा सकता।

जहाँ तक हिन्दी नवजागरण के बंगाल, गुजरात या भारत के अन्य प्रदेशों के नवजागरण के विशिष्ट होने की बात उतनी ही दूर तक सही है जितनी यह बात कि बंगाल या गुजरात या महाराष्ट्र का नवजागरण हिन्दी नवजागरण हिन्दी नवजागरण से विशिष्ट है। नवजागरण की चेतना भारत के हर प्रदेश में वहीं की मिट्टी और वहीं की समस्याओं से घुल-मिलकर सामने आई। नवजागरण के जिन अन्तर्विरोधों

की ओर ऊपर हमने संकेत किया है, वे भी कमोवेश हर प्रदेश के नवजागरण में विद्यमान हैं। और डा॓• शर्मा ने हिन्दी नवजागरण की जिन विशिष्टताओं को खासतौर से जिक्र किया है वे भी, दूसरे प्रदेशों के नवजागरण में भी विद्यमान हैं। मसलन बंगाल में रहस्यवाद ही नहीं, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी थे। महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले और सत्य शोधक समाज जैसी संस्थाएँ थीं। रेखांकित करने की बात है कि अपने-अपने प्रदेशों में अपने-अपने वैशिष्ट्य के होते हुए भी, इन प्रदेशों के लेखकों और विचारकों का आपस में तालमेल था। भारतेन्दु और विद्यासागर में परस्पर संवाद था, महावीर प्रसाद द्विवेदी मराठी के लेखकों और विचारकों से प्रभावित थे। ऐसी स्थिति में अधिक जरूरी है कि अन्तर्विरोधी को नजर अन्दाज न करते हुए भी नवजागरण की सकारात्मक विशेषताओं को आधार बनाकर भारतीय नवजागरण में बुनियादी एकता की तलाश की जाए न कि उनकी अपनी-अपनी कुछेक भिन्नताओं के नाते उनकी अपनी-अपनी विशिष्टता पर बल दिया जाए।

असल में नवजागरण हो या कोई अन्य जागरण, यह देखना आवश्यक है कि वह कितना विचारों में है और कितना आचरण में। बंगाल, महाराष्ट्र या गुजरात या अन्य प्रदेशों में नवजागरण के जो भी अन्तर्विरोध हों, उसके सकारात्मक पहलुओं ने इन प्रदेशों के सामाजिक जीवन में अपनी सशक्त उपस्थिति सूचित की है, यहाँ की सामाजिक भूमि पर अपने

स्पष्ट प्रभाव छोड़े हैं, जबकि हिन्दी नवजागरण का वैचारिक आधार बकौल डा॰ शर्मा, कितनी भी पुष्ट क्यों न हो, यहाँ के सामाजिक जीवन पर इन विचारों ने अपनी कोई खास छाप नहीं छोड़ी। इसका प्रमाण है हिन्दी प्रदेश में सामंती संस्कारो की अपेक्षाकृत सर्वाधिक जकड़बन्दी, उसका सामाजिक पिछड़ापन। ज्योतिबा फूले, नारायण देव, विद्यासागर जैसे समाज चिन्तकों का हिन्दी प्रदेश में न होना इस बात का और भी प्रमाण है कि यहाँ नवजागरण किताबी ज्यादा रहा, सामाजिक जीवन में उतना घटित नहीं हुआ। इसके जो भी कारण हो, अब समय आ गया है कि हिन्दी नवजागरण के विशिष्ट चरित्र पर आत्म मुग्ध होने के बजाय हम इन कारणों को खोजे, विराट हिन्दी प्रदेश के शैक्षिक और सामाजिक पिछड़ेपन से आँखे चार करें। हिन्दी प्रदेश भारत का हृदय प्रदेश हैं। उसके अभ्युत्थान या जागरण के बिना भारत के अभ्युत्थान और जागरण की बात पूरी नहीं हो सकती।

जहाँ तक सन् १८५७ ई॰ के स्वाधीनता संग्राम का सवाल हैं, ऊपर कहा जा चुका है कि यद्यपि वह हिन्दी प्रदेश के लड़ा गया था पर वह भारत का पहला स्वाधीनता संग्राम था, जो बिजली के चमक के समान अकस्मात् ही सन् १८५७ ई॰ के एक खास बिन्दु पर हिन्दी प्रदेश में अवतरित नहीं हो गया था। उसकी शक्ति के स्रोत हिन्दी प्रदेश में थे, उनका जिक्र डा॰ शर्मा ने जरूर किया है किन्तु उसके उन स्रोतों की और

उन्होंने अपेक्षित दृष्टि नहीं डाली, जो हिन्दी प्रदेश के बाहर थे। वस्तुतः यह स्वाधीनता संग्राम सन् १८५७ ई• में प्लासी की लड़ाई के बाद हिन्दुस्तान की राजसत्ता पर काबिज अंग्रेजों के काले-कारनामों की परिणति था। जिनकी चपेट में सारा भारत आया था और जिनके खिलाफ सन् १८५७ ई• से ही अलग-अलग जगहों पर भारतीय जनता ने अपने शेष का प्रकाशन किया था, अपनी सीमित शक्ति के बल में अंग्रेजों के शासन का सशस्त्र प्रतिकार किया था। तात्पर्य यह कि १८५७ ई• के स्वाधीनता संग्राम में अंग्रेजी राज्य पर प्रलय की जो वर्षो भले ही थोड़े समय के लिए भारतीयों ने की थी, उसके मेघ खण्ड पिछले सौ वर्षो के दौर में जगह-जगह एकत्र हुए थे। हिन्दी प्रदेश को इस स्वाधीनता संग्राम पर जातीय गर्व करने का हक हैं किन्तु इसके अखिल भारतीय महत्व और व्याप्ति को नजर अंदाज करना गलत होगा।

उन्नीसवीं सदी उत्तरार्द्ध के भारतीय नवजागरण के या हिन्दी नवजागरण को इस स्वाधीनता संग्राम से सीधे जोड़ना सही नही होगा। भारतीय बौद्धिकों के नवजागरण या हिन्दी नवजागरण में इसके छिटपुट प्रभाव भले हों, इसकी स्मृति को नवजागरण कालीन भारतीय या हिन्दी साहित्य में नहीं सहेजा गया। उसे हिन्दी प्रदेश की साधारण जनता ने लोक साहित्य में सहेजा। शिष्ट कहे जाने वाले साहित्य और उसके रचनाकारों की प्रेरणाएँ नवजागरण से जुड़ी। सन् १८५७ ई• के इस संग्राम

से नही। आगे का स्वाधीनता आन्दोलन भी नवजागरण की प्रेरणाओं से संचलित हुआ, सन् १८५७ ई• के स्वाधीनता संग्राम की प्रेरणाओं से नहीं। स्वाधीनता आन्दोलन में सन् १८५७ ई• की उपस्थित गदर पार्टी तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन में जरूर प्रतिबिम्बित हुई किन्तु लम्बे समय तक स्वाधीनता आन्दोलन की मुख्य धारा अंग्रेजों की राजसत्ता के भारत से सम्पूर्णतः उन्मूलन के बजाय उनसे सुलह-समझौते तथा प्रशासन में भारतीयों की भागीदारी जैसे मुद्दों को उठाती हुई ही वही। कालान्तर में स्वाधीनता आन्दोलन के जनाधार के व्यापक बनने पर ही पूर्ण स्वाधीनता की बात सामने आई।

अतएव जरूरी है कि सन् १८५७ ई• के स्वाधीनता संग्राम और नवजागरण के महत्व उनकी शक्ति तथा सीमाओं को उनकी अपनी जमीनों पर आँका जाए और दोनों को जरूरत से ज्यादा गड्डमड्ड न किया जाए, वह हिन्दी नवजागरण ही क्यों न हो। हिन्दी नवजागरण हिन्दी प्रदेश की अपनी छाप के बावजूद व्यापक भारतीय नवजागरण का ही हिस्सा है और अन्य प्रदेशों की भाँति नवजागरण के अन्तर्विरोध, उसकी शक्ति तथा सीमाएँ हिन्दी नवजागरण में भी देखी जा सकती हैं। जहाँ तक हिन्दी समाज का सवाल है, हिन्दी नवजागरण के निशान हिन्दी समाज में उस रूप में नहीं उभरे, जिस रूप में बंगाल, महाराष्ट्र या गुजरात में वहाँ के नवजागरण ने सामाजिक जीवन को प्रभावित किया। जरूरी है कि हिन्दी

नवजागरण और हिन्दी समाज के बीच के इस विसंवाद को सोचा जाए और सही निष्कर्षो तथा निदानों तक पहुँचा जाए, बजाय इसके कि हिन्दी नवजागरण पर आत्ममुग्ध हो उसे उसकी वस्तुपरकता में नहीं देखा जाए।

१.२ भारतीय नवजागरण और हाशिये का समाज

भारतीय समाज के विभिन्न वर्गो को समझने के लिए ऐतिहासिक परिप्रेक्ष में हमें वर्ण व्यवस्था से होकर वर्तमान प्रमुख रूप से जाति आधारित समान की व्यवस्था तक गुजरना होता है। जहाँ तक आदिवासियों का सवाल है तो वे इस सामाजिक प्रणाली का अंग न होकर अलग-थलग रहते आये समुदाय हैं जिन्हें वर्ण व जाति आधारित समाज से पृथक देखना होगा। व्यवसाय के आधार पर बनने वाली श्रेणियों की दृष्टि से भी आदिवासी समुदायों का वर्ग भौगोलिक, सांस्कृतिक व नृतत्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विशिष्ट ही माना जाता रहा है।

सर्वप्रथम ब्रिटिश काल में व्यवसाय आधारित जनगणना सन् १९८१ में हुई थी उसके बाद सन् १९३१ में जाति पर केन्द्रित जनगणना की गई। ब्रिटिश काल में हुई इस तरह की व पश्चात्वर्ती दस सालाना जनगणना के आँकड़ों में भी आदिवासी समाज को भारतीय मुख्य समाज से पृथक मानव समाज माना जाता रहा है। कुल मिलाकर भारतीय समाज को जाति व आदिवासी दो बड़े वर्गो में विभाजित करके ही देखा जाता रहा है जिसकी प्रमुख वजह यह रही है कि आदिवासी समुदायों में जाति की

अवधारणा विकसित नहीं हुई। यह अलग बात है कि उनका वर्गीकरण प्रजातीय व आचंलिक आधार पर किया जाता रहा है। इतिहास की यात्रा में भारतीय समाज के परिवर्तनक्रम में यह सम्भव है कि कुछ आदिवासी समुदाय मुख्य समाज की श्रेणी में आने की प्रक्रिया में उनकी संज्ञात्मक अवधारणा की परम्परा को जाति के रूप में पहचान दी जाने लगी, यद्यपि इससे उनका जातिगत समुदाय स्थापित हो जाना नहीं मान लेना चाहिए। इसकी प्रमुख वजह यह है कि अभी भी समुदाय के स्तर पर उनका नामकरण उनके आवासीय भूगोल, गोत्र, गणचिन्ह या वंश परम्परा के आधार पर ही जाना जाता रहा है और यही उन समुदायों की मूल पहचान है।

किसी भी राष्ट्र समाज के उन घटकों के मानव समुदाय के सम्मिलित समाज को हाशिये का समाज कहा गया है जो समाज के अगुवा तबके की तुलना में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक स्तर पर किन्हीं कारणों से पीछे रह गया है। इस सामान्यीकृत परिभाषा को विस्तार से समझने से पूर्व हाशिये शब्द पर थोड़ा विचार करना जरूरी है। किसी पृष्ठ में हस्तलेखन या टंकण करने से पूर्व शीर्ष एवं परम्परा अनुसार मुख्य रूप से बायी ओर कुछ जगह छोड़ी जाती रही है और इसी जगह को हाशिया कहा जाता है। प्रश्न यह उठता है कि हाशिया का समाज

समग्र समाज के लिए कितना महत्वपूर्ण है और उसे शीर्ष का समाज कहना चाहिए या एक ओर छोड़े गये हाशिये का समाज।

भारतीय राष्ट्र के सन्दर्भ में हाशियें के समाज में निस्संदेह आयी मानवता के रूप में महिलायें होगी। इससे इतर स्त्री पुरुष को साथ-साथ लेते हुए दलित, आदिवासी व अति पिछड़े अन्य वर्ग और अल्पसंख्यक शामिल माने जायेंगे। स्त्री की दशा इतिहास में पुरूष की तुलना में कुल मिलाकर दोयम दर्जा की रहती आई चाहें मूल में मातृ सत्तात्मक परिवार की वास्तविकता रही हो या भारतीय शास्त्रों में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' का कथन रहा हो। यह दशा कालांतर में विकसित पुरूष वर्चस्व के विकसित होते जाने के साथ पैदा हुई। पुरूष की तुलना में स्त्री की ऐसी दशा के अलावा जब सामाजिक घटकों के स्तर पर बात की जायेगी तो दलित व आदिवासी समाज की बात सामने आती है। यह समाज कैसे अस्तित्व में आया, यह शोध का विषय अभी भी है, लेकिन जो अध्ययन और इतिहास हमारे सामने है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्य-अनार्य संग्राम श्रृंखला के दौरान जो ज्ञात मूल-जन विजित कर लिये गये और दास, सेवक या शूद्र के रूप में जिनके साथ व्यवहार किया गया वे आज का दलित समाज है जिसने मुख्य रूप से अछूत होने का दंश सहा। जो जन समूह विजेताओं की पकड़ से बाहर रहे, खदेड़ दिये गये या बचकर दूर-दराज सुरक्षित दुर्गम जंगलों व पहाड़ों में

शरण लेने को विवश हुये वे आज के आदिवासी कहे जा सकते हैं। दलितों के साथ अछूत जैसा व्यवहार करना एक समाजशास्त्रीय अवधारणा है जबकि आदिवासीजन राजसत्ता के वर्चस्व के दूरी दलन की प्रक्रिया से गुजरते हुए पृथक भौगोलिक क्षेत्रों में चले गये, उनके जीवन की दशा को राजनीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए क्योंकि सामाजिक-सांस्कृतिक परम्परा के साथ उनकी राजनैतिक प्रणाली शेष समाज से पृथक रही। गणतंत्र की अवधारणा ऐसे ही आदिम समाजों में विकसित हुई थी जो अभी भी किसी न किसी रूप में देखी जा सकती हे। पूर्वोत्तर राज्य इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

उक्त समाजशास्त्रीय व राजनीति वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करने पर सामाजिक व राजनैतिक शोषण प्रमुख रूप से उभरकर सामने आता है।

जहाँ तक अति पिछड़े अन्य वर्गों का सवाल है तो उन्हें हम अर्थशास्त्रीय अवधारणा से समझ सकते हैं। इन घटकों का प्रमुख संकट वर्चस्वकारी प्रभु वर्ग द्वारा श्रम का शोषण था। इस वर्ग में कृषक, शिल्पी व श्रम पर निर्भर अन्य मानव समुदाय आते हैं। यद्यपि इस वर्ग ने सामाजिक, सांस्कृतिक स्तर पर दोयम दर्जे का सलूक नहीं झेला लेकिन आर्थिक दृष्टि से इस वर्ग का शोषण होता रहा है। इसलिए यह वर्ग भौतिक स्तर पर पीछे रहता चला गया। हाशिये के समाज में एक अन्य

महत्वपूर्ण घटक ऐसा शामिल है जिसे हम अल्पसंख्यक वर्ग कहते हैं जिसमें प्रमुख रूप से भारतीय हिन्दू या गैर-हिन्दू परम्परागत समाज के मानव समुदाय स्वैच्छिक या दबाव में अन्य धर्मों को अपनाते रहे। इनमें प्रमुख रूप से मुस्लिम, ईसाई व सिख शामिल है जिनका अधिसंख्यक दलित, आदिवासी व पिछड़ों वर्गों से ताल्लुक रखता है। यहाँ हम बौद्ध व जैन धर्मावलम्बियों को शामिल नहीं कर रहे हैं चूंकि ये दोनों ही धर्म जड़ होते जा रहे हिन्दू धर्म के विरूद्ध धार्मिक क्रान्तियों के रूप में सामने आते हैं एवं हाशिये के समाज से उस रूप में संबंध नहीं रखते जैसे कि यहाँ चर्चा की जा रही है यद्यपि यह भी पृथक से गहन विश्लेषण का विषय हो सकता हे।

स्पष्ट है कि दलित, दमित, शोषित व धर्म के स्तर पर अल्पसंख्यक घटकों का वृहद समाज हाशिये का समाज बनता है। हाशिये का यहाँ अत्यन्त सीमित अर्थ है जिसमें सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक स्तर पर इन्हीं से सम्बन्ध रखने वाली सत्ताओं यथा सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक शक्तियों पर वर्चस्च रखने वाले वर्ग ने हाशिये के इस वर्ग को उत्पीड़ित किया। फलस्वरूप यह वर्ग समाज के समग्र विकास की यात्रा में पीछे और हाशिये पर लटकता चला गया या उधर जाने के लिए विवश किया गया। वस्तुतः यह हाशिये का समाज ही राष्ट्र समाज की प्रमुख मानवता है जिसकी महत्वपूर्ण भूमिका सभ्यता व

संस्कृति के विकास में हुए तथा उत्पादन का कार्य भी इसी वर्ग द्वारा किया गया। इसलिए जब राष्ट्र निर्माण में मानव संसाधन के अवदान पर चर्चा की जायेगी तो श्रम सन्नद्ध इसी हाशिये के समाज को केन्द्र में रखा जायेगा न कि वर्चस्वकारी पराश्रयी प्रभु वर्ग को।

उक्त विश्लेषण से वर्ग की अवधारणा हमारे सामने आती है और किसी भी राष्ट्र समाज में अन्ततः दो ही वर्ग उभरकर सामने दिखाई देते हें एक श्रम सम्मत व्यापक लोक और दूसरा वर्चस्वकारी कुलीन वर्ग। ठेठ आदिम अवस्था से वर्तमान तक इस वर्गीय अवधारणा को केन्द्र में रखकर चीजों को समझने का प्रयास किया जाये तो व्यापक लोक बनाम वर्चस्वकारी वर्ग की ही तरह शारीरिक श्रम बनाम बौद्धिक श्रम का प्रत्यय हमारे सामने आता है। भारतीय ज्ञान परम्परा के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि किस तरह चालाक बुद्धिजीवी वर्ग ने शारीरिक श्रम की तुलना में बौद्धिक श्रम को महत्व देते जाने का प्रयास करते-करते अन्ततः बुद्धिबल को श्रम से अधिक तवज्जो दी और यह प्रस्थापित कर दिया कि बौद्धिक अवदान ही सभ्यता, संस्कृति और विकास की यात्रा के लिए प्रमुख है। इस प्रस्थापना के कारण श्रम पर आधारित वर्ग बौद्धिक वर्ग की तुलना में हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। यह सर्वविदित है कि किस तरह इस बौद्धिक वर्ग ने श्रम का बुद्धिबल का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए स्वयं के वर्चस्व को प्रस्थापित किया। इसी के साथ विराट पुरूष से

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति की जिसने मनुवाद को जन्म देते हुए अन्ततः भारत की व्यापक लोक-परम्परा के मौलिक गुणों यथा: समानता, सामूहिकता, मातृ प्रधानता, सार्वजनिक सम्पत्ति एवं प्रकृति व मानवेतर प्राणी जगत से सहअस्तित्व के सम्बन्धों को शनैः -शनैः तिलांजलि दी और यही प्रक्रिया आज के बहुआयामी संकटों की जननी है। राज, धन व धर्म की सत्ताओं पर जो वर्ग काबिज रहा उसने शेष समाज को उपेक्षित रखने का षडयंत्र रचा। यहाँ तक कि पुरूष वर्चस्व की परम्परा को सुदृढ़ करते हुए स्वयं के वर्ग के नारी समुदाय को भी दोयम दर्जे पर पटक दिया। जिसे हम हाशिये पर समाज कहते हैं उसका अधिकांश ज्ञात स्तर पर देश का मूल निवासी है। इस देश की सभ्यता व संस्कृति का निर्माता है। इस राष्ट्र की भूमि का असली वारिस है। जो मानसिकता समानता, सामूहिकता, प्रकृति व प्राणियों के साथ सहअस्तित्व, श्रम की महत्ता आदि में विश्वास नहीं करती उसे राष्ट्र हित के लिए घातक माना जाना चाहिए। इस उत्तर-आधुनिक वैश्वीकरण के दौर में चीजें और साफ होती जा रही हैं जबकि पूंजी, बाजार, तकनीकी आदि के रूप में उभर रही नई शक्तियों पर भी एक चालाक वर्ग का कब्जा होता जा रहा है जो बाजार की ताकत के आधार पर शासन प्रणाली एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था को भी अपने हित में इस्तेमाल करने की क्षमता रखता है। यह ऐसा वर्ग है जिसका एकमात्र लक्ष्य अधिकाधिक भौतिक लाभ अर्जित करना है। इस वर्ग के राष्ट्र-समाज

के सरोकारों से अधिक मतलब नहीं है। परम्परागत वर्चस्वकारी वर्ग अब हाईटेक पूंजीनायक वर्ग बनता जा रहा है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनसंख्या एवं मतदाताओं का निर्णय शासन संचालन के लिए प्रमुख शक्ति-स्रोत होता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो दलित, आदिवासी, अति पिछड़ा वर्ग एवं अल्पसंख्यक (महिलाओं सहित) क्रमशः १६,१२,२२ व २० (कुल ७० प्रतिशत) एवं ३० प्रतिशत प्रभु वर्ग का ५० प्रतिशत अर्थात कुल का १५ प्रतिशत स्त्रियों को मिलाकर तथाकथित हाशिये के समाज का यह वर्ग भारत की ८५ प्रतिशत जनसंख्या बनती है और इसी अनुपात में मतदाता। इस बहुलजन को हाशिये का समाज कैसे कहा जा सकता है?

इस बहुसंख्यक समाज की समस्याओं में कुछ समान समस्याएँ हैं जिनमें हम बहुआयामी शोषण, पहचान का संकट और अन्ततः मानवाधिकारों की समस्याओं के रूप में देख सकते हैं। विशिष्ट समस्याओं के रूप में दलित वर्ग अभी भी अस्पृश्यता के संकट से जूझ रहा है। आदिवासी समाज के लिए तो इस दौर में अस्तित्व का संकट चुनौती के रूप में सामने आ रहा है। अति पिछड़ा वर्ग श्रम के शोषण से अभी भी जूझ रहा है। और अल्पसंख्यक वर्ग आये दिन साम्प्रदायिक स्तर पर हिंसा एवं उत्पीड़न से ग्रसित है। कुल मिलाकर समान व विशिष्ट समस्यायें इस वर्ग की जिस वजह से उत्पन्न हुई है वह प्रभु वर्ग का

समग्र वर्चस्व है जिसमें विकास के लिए आवश्यक संसाधनों पर उसका कब्जा निर्णायक तत्व के रूप में देखा जा सकता है।

मुक्ति का मार्ग एक ही है कि हाशिये के जिस समाज को अब हम बहुसंख्य समाज कहने की स्थिति में हैं। उस समाज के विभिन्न घटक एकजुट होकर राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक मोर्चों पर लामबंद हों और शिक्षा, जागरित व नेतृत्व को विकसित करें एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था में अपना सशक्त प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करें ताकि निर्णय उनके पक्ष में सम्भव हो सके और साथ ही वर्चस्वकारी वर्ग को यह आत्मानुभूति हो कि परम्परा दर परम्परा उसने जो चालाकियाँ की हैं वे अन्तः समग्र मानव समाज के हित में नहीं हैं। ये हरकतें मनुष्य विरोधी हरकतें रही हैं जिनसे स्वयं वह वर्ग भी सुरक्षित नहीं रह पायेगा।

हाशिये के समाज से सम्बन्धित जिन घटकों की हम बात कर रहे हैं उसे यदि मिथक और इतिहास में देखाजाये तो स्त्री, शुद्र, राक्षस आदि एवं कृषक-शिल्पी आदि मानव समुदाय सामने आते हैं। सतयुग में इन्द्रलोक की अप्सराओं, शकुन्तला, गार्गी व माधवी जैसे नारी पात्र हमारे सामने हैं जिन्होंने पुरूष वर्चस्व के कारण उत्पीड़न सहा। त्रेतायुग में सीता और द्वापर में द्रोपदी जैसे चरित्र मिलते है जिन्होंने अपने पक्ष की लड़ाई लड़ी। यह स्त्री का परम्परागत प्रतिरोध था। यही प्रतिरोध आज नारी मुक्ति आन्दोलन के रूप हमारे सामने है। दलित-आदिवासी-लोक के अन्य घटकों

से सम्बन्धित उदाहरणों में त्रेतागुण के उन सारे आदिवासी समुदायों को लिया जा सकता है जो राम के पक्ष में लंका की लड़ाई लड़े। हनुमान के अलावा सभी पात्र चाहे कितने भी योद्धा, कूटनीतिज्ञ व रणनीतिकार रहे हों, अन्ततः वे सबके सब वहीं रहे जहाँ थे। अयोध्या की शासन प्रणाली में उनमें से किसी को कोइ्र उचित पद नहीं दिया गया। यही स्थिति द्वापर युग के कृष्ण-काल में देखी जा सकती है। कौरव-पांडव तत्कालीन समाज के शासक थे और उनके प्रमुख सलाहकार श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण ने जहां अपना बचपन गुजारा और युवावस्थाकी दहलीज पर कदम रखा तब तक सारे संगी -साथी रंग-सम्मत लोक से जुड़े हुए चरित्र थे चाहे वे ग्वाल, बाल सखा, गोपिकाएँ कोई भी हों इनमें से केवल सुदामा के अलावा अन्य की भौतिक दशा में कोई परिवर्तन हुआ या नहीं हुआ, कोई उदाहरण हमारे सामने नहीं है। राधा के बारे में कहते रहिए कि 'भविष्य में उनका नाम' कृष्ण से पहले भक्तजनों की जुबान पर रहेगा' मगर भौतिक जीवन में राधा ने सम्पूर्ण जीवन कृष्ण के विरह में गुजारा। यह द्वापर का एक कटु सत्य सामने है।

भारतीय मिथक एवं इतिहास परम्परा में बहुत ऐसे सन्दर्भ हैं जिनका जिक्र परम्परागत सर्वस्वकारी वर्ग अपने पक्ष में करता है, यह साबित करने के लिए कि भारतीय समाज एवं संस्कृति में शान्ति, सद्भाव, वसुधैव कुटुम्बकम, नारी का सम्मान आदि को उच्च स्थान दिया जाता

रहा है। जितने भी युद्ध होते रहे हैं उनको अन्ततः धर्म युद्ध सिद्ध करने के प्रयास किये गये चाहे वे कितने भी हिंसक व नरसंहारी रहे हों, जबकि राम-रावण व महाभारत युद्ध की जड़ में भद्र वर्ग के किसी बड़े पात्र में सम्बन्धित कोई व्यक्तिगत कारण रहा था। राम-रावण संग्राम में रावण के द्वारा सीता हरण के कृत्य को पृथक से देखा जाना चाहिए और समस्त शत्रु पक्ष के विनाश के अभियान को अलग से, जो सुरासुर आर्य-अनार्य संग्राम शृंखला को ही एक प्रकार से आगे बढ़ाता है। महाभारत युद्ध को दुर्योधन के पक्ष में देखा जाये तो यह तथ्य गौर करने लायक है कि वह कालखण्ड कृषियोग्य भूमि के विस्तार से सम्बन्धित था जिसमें पाडंवों के अलावा दुर्योधन की अगुवाई में कौरवों द्वारा जंगली इलाको को साफ कर कृषि योग्य भूमि तैयार की गई और उन दिनों पांडव कहीं अन्यत्र तपस्या कर रहे थे ताकि श्रम से पृथक साधना के आधार पर दैवीय शक्तियां प्राप्त की जा सके। यहां श्रम का प्रतिनिधित्व दुर्योधन का पक्ष कर रहा है और साधना का पांडव पक्ष। जब दुर्याेधन व युधिष्ठर के पक्षों के बीच सम्पत्ति के बटवारे की बात आती है तो वह सम्पत्ति केवल भू-क्षेत्र था जिसको देने से दुर्योधन ने स्पष्ट इन्कार किया था। तात्कालिक कारण चाहे दुर्योधन पर द्रोपदी का हंसना रहा हो लेकिन पृष्ठभूमि का वास्तविक कारण भू- सम्पदा पर अधिकार का था। मिथकैतिहास एवं इतिहास में युद्धों के जितने उदाहरण हैं उनका विश्लेषण करने से अतिक्रमी विस्तारवादी शक्तियों के

वर्चस्व की मानसिकता सामने आयेगी, चाहे उसे गौरवान्वित करने के लिए कोई अन्य नाम दिया जाता रहा हो।

परम्परा के उपरोक्त उदाहरणों के ही क्रम में वर्तमान तथाकथित वैश्वीकरण में जो कुछ घटित हो रहा है उसे देखा जाना चाहिए। उल्लेखनीय है कि यह बात भारत के सन्दर्भ में ही नहीं प्रत्युतः विश्व के श्रम सम्मत लोक एवं वर्चस्वकारी शक्तियों के माध्यम से होने वाली अन्तर्संघर्षों के रूप में आती है। परम्परा के अनुसार राज, समाज व धर्म प्रमुख अवधारणा के रूप में सामने आते हैं। राज व समाज की व्यवस्था पर भी धर्म की मोहर लगाई जाती थी ताकि लोक में से कहीं कोई प्रतिरोध हो तो यह कहा जा सके कि यह सारी व्यवस्था अन्ततः ईश्वरीय इच्छा है। अब स्थिति बदल गई है। धर्म का स्थान पूंजी ने ले लिया है पर पूंजी के ईर्द-गिर्द राज, समाज व धर्म से सम्बन्धित सारी गतिविधियां चलने लगी है। कुल मिलाकर पूंजी का वर्चस्व है। पूंजी को एक प्रभावकारी हथियार के रूप में एक वर्ग विशेष इस्तेमाल किये जा रहे है जिसे अन्ततः वैश्विक विस्तारवादी वर्चस्ववादी वर्ग कहा जा सकता है। अमेरिका जैसे हाईटेक अति विकसित राष्ट्रों के सन्दर्भ में यह अवधारणा नवसाम्राज्यवाद के रूप में सामने आती है जिसके ज्वलंत उदाहरण अमेरिका की अगुवाई में ईराक व अफगानिस्तान पर आक्रमण तथा लादेन जैसे आतंकवादियों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परवाह न करते हुए अन्य

देश की भूमि से बिना उसकी सहमति लिये मारा जाता है। यहाँ प्रश्न विश्व के सामने सद्दाम व लादेन की चुनौती का नहीं है प्रत्युक्त संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सम्मान व सुद्ढ़ीकरण का है जो विश्व में वैश्विक राजनैतिक व्यवहार के लिए प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध की त्रासदियों की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए गम्भीर विमर्श के पश्चात स्थापित की गई थी। यह तो मानना पड़ेगा कि विश्व व्यवस्था के लिए कोई विश्व संस्था सर्वोच्च मानी जाये जो सिद्धान्त व व्यवहार के स्तर पर राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लक्ष्य को प्राप्त करने में प्रभावी भूमिका निभा सके। चाहे किसी राष्ट्र-समाज के भीतर का प्रभु वर्ग हो या विश्व के स्तर पर कोई प्रभु राष्ट्र समूह, शक्तिशाली का अन्ततः ध्येय वर्चस्व स्थापित करना हो जाता है। यही वर्चस्ववादी मानसिकता है जिसे व्यक्ति वे राष्ट्र पर विश्लेषित किया जाना चाहिए।

वैश्वीकरण के इस दौर में प्रभु वर्ग द्वारा स्वयं के हित में चलाये जा रहे अभियान को यह कहकर न्याय सम्मत ठहराये जाने का प्रयास किया जाता है कि निजीकरण-उदारीकरण-भूमंडलीकरण आम आदमी की प्रगति के लिए है। मोबाईल फोन जैसी कुछ तकनीक आम आदमी के हित में हो सकती है, लेकिन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का आखिरी मकसद प्राकृतिक संसाधनों के दोहन, बाजार की शक्ति के आधार पर

अधिकाधिक लाभ, पूँजी व तकनीकी के बल पर अपने व्यावसायिक विस्तार आदि हैं जहाँ आम आदमी का हित गौण हो जाता है।

नई पीढ़ी के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि वैश्वीकरण के दौर में रोजगार की सम्भावना बढ़ेगी और लोगों को माली हालत तथा आधारभूत सुविधाओं में बढ़ोत्तरी होगी। वास्तव में रोजगार युवा वर्ग के उस घटक के लिए अनुभवी है या कुशल श्रमिक के रूप में अपने श्रम से व्यवसायकर्ता को अधिकाधिक आर्थिक लाभ पहुँचा सकता है। ऐसा युवा वर्ग पैदा करने के लिए तकनीकी व विशिष्ट शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाएं स्थापित की जा रही हैं जिनका अधिकांश भाग प्राइवेट सेक्टर में है। ऐसी शिक्षा या सेवा के नाम पर स्वास्थ्य व अन्य गतिविधियाँ भी अन्ततः आय के केन्द्र बनकर रह जाते हैं। इस प्रक्रिया में राज्य की कल्याणकारी भूमिका नकारात्मक दृष्टि से प्रभावित होती है। उसका क्षेत्र सीमित होता है और जो कुछ भूमिका अदा की जाती है उस पर प्रभु वर्ग एक शक्तिशाली दबाव समूह के रूप में काम करने लगता है। वैश्वीकरण की यह समस्त प्रक्रिया अन्ततः सार्वजनिक व निजी दोनों ही क्षेत्रों पर अपना बहुआयामी वर्चस्व कायम करने का मार्ग प्रशस्त करती है।

समकालीन विमर्श के अन्तर्गत आदिवासी साहित्य काफी प्रकाशित हुआ। जिसमें दुर्गा भागवत, सुदामा जाधव, गोल ओम वेट, जगदीश गोडबोले, अनुताई वाथ, शरद पाटेल, दीनानाथ मनोहर आदि गैर

आदिवासी साहित्यकार प्रमुख हैं। कुछ ऐसे साहित्यकार हैं जो आदिवासी होते हुए अपने जीवन संघर्ष को साहित्य के रूप में व्यक्त कर रहे हैं जैसे- डाॅ• रावण कंगाली, डाॅ• राम दयाल मुंडा, डाॅ• रोजकेर कट्टा, भुजंग मेश्राम, डाॅ• गोविन्द गारे, पंडुलिक केदारी, सोबती गावीत, ऋषि गजराज, नेता जी राज गडकर, बाबूराव मंडावी, दशरथ माँझी, राजेन्द्र गावीत, विनायक तुमराम, लक्ष्मण टोपले, राजा भा राजगड़कर, विश्राम वलवी, उषा किरण आश्राम, कवि कुरसंगे, राम सिंह ठाकरे, किरण सिंग वसावे, चामुलाल राठवा, छाया सुरतवन्ती, डाॅ• एम•आर• उगला, पुंडलिक केदारी, जे•बी• सेलार आदि अनेक आदिवासी कलाकार एवं साहित्यकार-समीक्षक हैं जो आदिवासी आन्दोलन को एक नयी पहचान देने के लिए निरन्तर प्रयासरात हैं। वाहरू सोनवणे जी का कहना है कि- ''पढ़ा-लिखा आदिवासी, साहित्य में नायक की अपनी भूमिका खोजने लगा है। साहित्य में आदिवासियों का जो प्रतिबिम्ब उभरा है, क्या वह आदिवासी के साथ न्याय करता है? इस प्रकार की दृष्टि रखे हुए नयी पीढ़ी का पढ़ा-लिखा आदिवासी नौजवान अपनी अस्मिता खोजते हुए अपने हाथों में लेखनी लेकर खुद ही लिखने लगा है और अपने दर्द और विद्रोह को लिपिबद्ध कर रहा है।'' भारतीय नवजागरण काल में आदिवासी समाज ने कई आंदोलन किये और कई अस्मितावादी लड़ाइयाँ लड़ी। सन् १७७२ में मल पहाड़ियाँ की अंग्रेजों के खिलाफ बगावती क्रांति हुई। सन् १८३१-३२ का कोल विद्रोह जो अंग्रेजों की जमीन हड़पने की नीति के खिलाफ किया

गया एक क्रान्तिकारी कदम था। इस विद्रोह के सन्दर्भ में महादेव टोम्पो का कहना है कि - ''१८३१-३२ के कोल विद्रोह की पृष्ठभूमि क्या थी? यही कि जब मुद्रा के रूप में कर उसूलने का फैसला अंग्रेजों द्वारा किया गया तो हमारे पूर्वज साहूकारों, जमींदारों के पास गये क्योंकि तब तक हमारे क्षेत्र में वस्तु-विनिमय प्रणाली प्रचलित थी। अतः उन्होंने मुद्रा की आवश्यकता का अनुभव भी नहीं किया था। इन लोगों ने अँगूठे का निशान सादे कागज पर लगवाकर पैसे तो दे दिये, लेकिन पीढियों तक उन कर्जो से मुक्त न होने की स्थिति में, जब वे कलकत्ता के न्यायालयों में गये, तो मुकदमा हार गये। कारण था। भाषा समस्या। वे सीधे अपनी बातों को अंग्रेजों तक नहीं पहुंचा सकते थे। बिचोलिए तथ्यों को साहूकारों, जमींदारों के पक्ष में रख देते थे और प्रमाण के रूप में अंगूठे लगा कागज बढ़ा देते थे। वर्षों तक अन्न देकर या साहूकारों-जमीदारों के यहाँ मजदूरी करके भी जब वे जमीन वापस न पा सकें, तो उन्होंने उनके विरूद्ध मुकदमा किया वे मुकदमा हार गये। उसका आक्रोश व्यक्त हुआ कोल विद्रोह में।''

जिस अधिकार के वह हकदार हैं आज उसके लिए उन्हें लड़कर लेना पड़ रहा है। आखिर आजादी है कहाँ? कौन आजाद है? उनके द्वारा देश की प्रगति में दिये गये योगदान झूठे बना दिये गये। उन्हें इतिहास और समाज के स्टेज पर लाया ही नहीं गया, उनके साथ तो

छल किया गया है। डाॅ. वाहरू सोनवणे जी कविता 'स्टेज' में बाकायदा लिखते हैं-

''हम स्टेज पर गये ही नहीं/और हमें बुलाया भी नहीं

उंगली के इशारे से हमारी जगह/हमें दिखाई गयी

हम वहीं बैठे/हमें शाबासी मिली

और 'वे' स्टेज पर खड़े हो/ हमारा दुःख

अपना ही रहा/ कभी उनका हुआ ही नहीं

हमारी 'शंकाएँ'/ हम बड़बड़ाए

कान देकर वे सुनते रहे/और निःश्वास छोड़ा

और हमारे कान पकड़कर/हमें ही धमकाया

माफी माँगो नहीं तो।''

नवजागरण के फलस्वरूप हम और अधिकार की माँग ने आदिवासी समाज को एक नयी चुनौती दी। अगर वे उस समय पढ़े-लिखे होते तो कोल विद्रोह शायद न हुआ होता और वह मुकदमा जीत गये होते। भाषायी राजनीति के चलते आदिवासी समाज की बहुत ही हानि हुई। ८० के दशक में भूख, भय और बेरोजगारी के चलते झारखण्ड के शहरों में आदिवासी लड़कियों को दाई का कार्य करना पड़ा। लोगों के घरों

में बर्तन माँजने, कपड़ा धोने तक का कार्य करती थीं। यह कार्य धीरे-धीरे दिल्ली, मुम्बई और अन्य शहरों में भी इनकी माँग बढ़ने लगी। लेकिन अब वह सुरक्षित न थीं। कई घरों में आदिवासी लड़कियाँ हार के मालिक की वासना का शिकार हो गयीं। घरों में दिनोंदिन लड़कियों का शोषण होने लगा। अब इनकी गरीबी भूखे पेट से देह और सम्भोग तक का सफर तय कर चुकी थी। १७ नवम्बर, १९१३ को एक ऐतिहासिक घटना घटी थी उस समय था मानगढ़ विद्रोह। राजस्थान के बाँसवाड़ा जिले और गुजरात सीमा से सटा यह मानगढ़ रियासतों और अंग्रेजों के शोषण का जीता-जागता गवाह है। बंजारा जाति में जन्मे गोविन्द गुरू इस विद्रोह के नायक थेे। उपनिवेशवादी और सामन्तवादी व्यवस्था के विरूद्ध छेड़ी गयी क्रांति आजादी की लड़ाई थी। जलियावाला बाग कांड जैसा-दृश्य वहाँ पहले ही घटित हुआ था। इस विद्रोह में आदिवासी बेगार प्रथा, वन सम्पदा पर पाबन्दी और भारी लगान के खिलाफ अपनी आवाज को बुलन्द करने के लिए लगभग १५-२० हजार लोग इकट्ठे हुए थे। उस समय ब्रिटिश कमांडेन्ट जे.पी. स्टोक्ले के नेतृत्व में जाट रेजीमेंट, राजपूत रेजीमेंट और मेवाड़ भील कोर जैसी चार कम्पनियों ने हथियार से लामबन्द होकर निहत्थे आदिवासियों को गोलियों से भून दिया था। आज तक के इतिहास में यह खूनी संघर्ष बेहद मार्मिक और दर्दनाक था। इस आंदोलन का इतिहास कई सालों अन्धकार में रहा और किसी को पता भी नहीं था कि ऐसी घटना कभी कहीं घटित भी हुई थी। ऐसे संघर्ष के क्रम में हरिराम

मीणा जी का कहना है कि- ''एक और ऐसी ही घटना मानगढ़ से थोड़ी दूर गुजरात की विजय नगर रियासत (अब तहसील) के गाँव पाल चित्तरिया में घटी थी। मानगढ़ की ही तरह ७ मार्च, १९२२ के दिन १२०० आदिवासी शहीद हुए थे। 'इंडिया टुडे' की एक टीम वहाँ गयी। कुछ लोग जिन्दा हैं जो घटना के चश्मदीद गवाह हैं, उनसे भी बातें कीं। 'इंडिया टुडे' के ३ सितम्बर, १९९७ के अंक में उदय माहूरकर की रपट इस सम्बन्ध में छपी। और तो और बिरसा मुंडा जैसे क्रांति चेता को भी बहुत अर्से बाद स्वीकार किया गया।

आदिवासी समकालीन विमर्श के सन्दर्भ में एक घटना और है लगभग ७५ वर्ष पहले मिजोरम के लोग सन् १९५९-६०, १९६६ से एक अलग राज्य की माँग कर रहे थे। फरवरी १९६६ में एम•एन•ए• ने आयीजोल के अतिरिक्त अन्य जिलों के मुख्यालयों को अपने अधीनस्थ कर लिया जब कि फौज द्वारा इसका भारी विरोध किया गया और अन्ततः पहली बार उनके द्वारा वहाँ के नागरिकों और शहरों पर बम गिराया गया। उसके बाद १ मार्च, १९६६ को एम.एन.एफ. ने मिजोरम को स्वाधीनता कर

दिया। शिमरी चान लुइ थुई तथा अन्य लोगों को मिजोरम के सम्बन्ध में लिखना है- ''१९८६ में मिजोरम समझौते पर दस्तखत कर दिये गये। इसके अन्तर्गत मिजोरम को राज्य का दर्जा दिया गया और १९६०-७० के दौरान सेना के अत्याचारों से पीड़ित लोगों को हरजाना दिया गया। मई १९९५ में गुवाहाटी को रू॰ १८००००००० की सहायता स्वीकृत करने के आदेश दिये, जिन्हें सुरक्षाबलों की देशद्रोह विरोधी मुहिम के दौरान नुकसान उठाना पड़ा था। अलबत्ता १९९८ के मध्य तक इन लोगों को कोई राशि प्राप्त नहीं हुई थी।''

९० के दशक में झारखण्ड में पतरातू डैम बना तो डैम के आस-पास कई गाँव वर्षों तक न तो बिजली और न ही पानी का ठीक तरह से मुँह देख पाये। सरकार ने उन्हें पानी तक मुहैया नहीं कराया। जब वहाँ के लोगों ने उसके विरूद्ध आन्दोलन छेड़ा। तब जाकर कुछ स्थिति सुधरी। झारखण्ड खनिज सम्पदा से मालामाल है। इसके बावजूद वहाँ के लोग गरीबी की मार से पीड़ित थे। ७० के दशक में तो झारखण्ड में लोटा-सोटा-झोटा झारखण्ड छोड़ो आन्दोलन चला था। लोटा मतलब मारवाड़ी, सोटा मतलब बिहारी और झोटा का अर्थ पंजाबी था इन्हें वहाँ दिकू के नाम से जाना जाता था। ये लोग सूद का व्यापार करते थे। रमणिका गुप्ता जी लिखती है- ''१९७०-८० के दशक में कई सामयिक आन्दोलन चले। हमने 'लाठा, छावन और जलावन' तथा जल, जंगल,

जमीन' के लिए पूरे छोटो नागरपुर के पैमाने पर १९७० में आन्दोलन शुरू किया था। उसी के तहत १९७० में डिमार्केशन और जंगल के सिपाही सूखी लकड़ी को भी गीता करार देकर आदिवासियों पर दंड लगाते थे या उन्हें गिरफ्तार कर के जेल भेज देते थे।''

सुरेन्द्र कुमार नायक कविता 'उलीहातू' में लिखते है-

''अपने ही बीच/कुकुरमुत्ते से उग आये

दलालों के दमन चक्र/विकास का बहाना

हीराकुंड से लेकर/सिंगुुर, नन्दीग्राम, भिलाई तक

हमारी जमीन, हमारे जंगल/हड़पते

हमारे, तथाकथित रक्षक।''

इस तरह से कई और भी आंदोलन हुए जिनका जिक्र करना महत्वपूर्ण है। क्यांेकि समकालीन विमर्श मे इन आन्दोलनों की महती भूमिका रही है। सन् १७६६ में नाला, जामताड़ा और कुन्डहइत में रमना अल्हाड़ी की अगुवाई में पहाड़िया विद्रोह, १७७०-७८ का मनसा पहाड़िया विद्रोह, १७८१ का रानी सर्वेश्वरी और १७८१ तिलका माँझी का विद्रोह, जो १७८१ से १७८५ तक चला। तिलका माँझी ने इस लड़ाई में अंग्रेज कमिश्नर अगस्टम क्लीवलैंड को तीर से मार गिराया था। सन् १७८२ का तमाड़ विद्रोह, १७९७-९८ का विष्णु मानकी का बुुंडू विद्रोह १८००-०८ का

दूखन मानकी का तमाड़ विद्रोह, १८१९-२० का मुंडा विद्रोह जिसे रूगदेव और कोंता मुंडा के नेतृत्व का प्रथम कोल विद्रोह माना जाता है। १८२०-२१ का 'हो' विद्रोह, १८२८-३२ में विन्दराय और सिंह राय द्वारा द्वितीय कोल-विद्रोह, १८५३-५६ का सिद्धो कानू और चाँद, भैरो मुर्मू का संथाल छूल विद्रोह, इस विद्रोह में लगभग १०००० आदिवासी शहीद हुए थे। इन विद्रोहों का स्थान न केवल आदिवासी साहित्य में बल्कि भारतीय इतिहास में भी महत्वपूर्ण है।

बड़े-बुजुगों ने अक्सर यह बात कही है कि समय बलवान होता है वह न तो किसी के लिए रूकता है और न ही किसी के सामने झुकता है। जो व्यक्ति समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चलता है वही इस दुनिया में अमर होने का हकदार होता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि समय हर घटना का साक्षी रहा है। हमेशा से ही ये होता चला आ रहा है। समय के बदलते स्वरूप के कारण समाज का एक नया प्रारूप तैयार होता है। आज समय ने फिर दस्तक दी है उन लोगों के दरवाजों पर जो आज की उपेक्षित जीवन जीने पर मजबूर हैं। वरूण के बेटे- नागार्जुन द्वारा लिखित वरुण के बेटे (१९५७) नयी सोच रूपी पहला आंचलिक उपन्यास है जो बिहार के आदिवासी मछुवारों के संघर्षमय जीवन पर आधारित है। नागार्जुन जी ने इसमें मछुआरों का यथार्थवादी चित्र खींचा है। एक आदिवासी के दिल की तमन्ना और उसकी सोच को व्यक्त करते

हुए नागार्जुन जी लिखते हैं- ''मोहन माँझी के स्वप्न थे कि गढ़पोखर का जीर्णोद्वार होगा आगे चलकर और तब मत्राही-गोंढियारी के ये ग्रामांचल मछली-पालन-व्यवसाय का आधुनिकतम केन्द्र हो जायंेगे। वैज्ञानिक प्रणाली से यहाँ मछलियाँ अधिक से अधिक परिणाम में हम निकाल ले सकेंगे। एक-एक सीजन में पचास हजार रुपयों तक की आय होगी। मलाही-गोंढ़ियारी का एक-एक परिवार गरोखर की बदौलत सुखी-सम्पन्न हो जायेगा। विशाल जलाशय की इन कछारों में हम किस्म-किस्म के कमलों और कुमुदिनियों की खेती करेंगे। पक्की-ऊँची भिन्डों पर इकतल्ला सैनिटोरियम बनेगा, फिर दूर-पास के विश्रामार्थी आ-आकर यहाँ छुट्टियाँ मनाया करेंगे........।''

एक ऐसा समाज जिसका वजूद वेदों और पुराणों में दर्ज है लेकिन आज वही सबसे ज्यादा हाशिए का शिकार है। ऐसे समाज का नाम है आदिवासी समाज जिसे न तो उचित स्थान वेदों-पुराणों में मिला और नही इतिहास के पन्नों में। अगर उसे कहीं दर्ज भी किया गया तो मात्र मिथकों के माध्यम जिसमें उसे असुर, राक्षस, पिशाच और न जाने किन-किन नामों से पुकारा गया। 'ग्लोबल गाँव' के देवता में रूनझुन कहती है- ''हमारी जाति विनाश की एक झलक मात्र है इस कहानी में। हम वैदिक काल के सप्तसिन्धु के इलाके से लगातार पीछे हटते हुए आजमगढ़, शाहाबाद, आरा, गया, राजगीर से होते इस वन-प्रस्तर कींकट,

चैंहिक, कोकराह या चुटिया नागपुर पहुं ँचे। हजार सालों में कितने इन्द्रों, कितने पांडवों, कितने सिंगबोंगा ने कितनी-कितनी बार हमारा विनाश किया, कितने गढ़ ध्वस्त किये, उसकी कोई गणना किसी इतिहास में दर्ज नहीं है। केवल लोककथाओं और मिथकों में हम जिन्दा हैं।''

अब जहाँ तक सवाल समकालीन आदिवासी कालों के बीच जो आदिवासी समाज के हित के लिए उनकी अस्मिता और जल, जंगल, जमीन की बात को उठाया गया वह आज वर्तमान में एक बहुत बड़े मुद्दे के रूप मं े तब्दील हो चुका है। वर्षो से सो रहे आदिवासियों पर अत्याचार की सच्ची दास्ताँ हिन्दी साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास आदि विधाओं में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। परन्तु कविता में जो आदिवासी संवेदना का स्वर हमें सुनाई देता है वह मानव समाज के सन्निकट है। महादेव टोप्पो कविता 'जंगल की कवि' में लिखते हैं-

''जब जंगल को

सारी विद्रोही आवाजों को

जंगल के पेड़ों के हरेपन को

हरे-भरे होकर सीना तान

पहाड़ों पर घाटियों में

उगने लहराने की

उनकी आकांक्षा को महुए की बोतल में

डुबोने की हो साजिश

इस जंगल का कवि

रहेगा भला कैसे चुप?।''

आखिर सिर्फ झूठा दिखावा करके यह सान्त्वना प्रदान करना कि यह सरकार उनके विकास के लिए हमेशा प्रयत्नशील है। महज यह एक खोखली बात होकर रह गयी है। आदिवासी समाज के अस्मत-अस्मिता पर प्रहार करना जैसे बड़े लोगों का एकाधिकार बन गया है। आखिर कब तक चलेगा यह सब, कब तक यह पीड़ान्तक दर्द को झेलते रहेंगे आदिवासी-समाज। 'काला पादरी' उपन्यास में तेजिन्दर ने बिल्कुल सही तरीके से लिखा है कि कैसे ईसाई मिशनरी के लोगों ने अपने मकसद के लिए आदिवासी समाज का इस्तेमाल किया, उन्हें एक सभ्य मानव तो बना दिया लेकिन उनकी पहचान, संस्कृति सबको हाशिए पर पहुँचा दिया। फादर का कथन है ''इनके पास ईश्वर का कोई इमेज नहीं था डियर, जिसकी ओर ये आस भरी निगाह के साथ देख सकें, जब हम यहाँ आया आया तो राजा भी अपना देवी को प्लांट कर रहा था। यू नो हा. टू प्लांट ए थाट, इट इज वैरी इम्पार्टेट, हमने भी प्रभु यीशु की इमेज प्लांट कर दी, इट वाज ए वाट ऑफ इमेजेज, जिसमें जीत हमारी हुई।''

इस तरह से धीरे-धीरे आदिवासी समाज को अपनी मीठी-मीठी बातों मं फँसाकर मानसिक, सांस्कृतिक, अस्तित्व इन तीनों का अपहरण कर लिया। अपना लाभ लेते रहे ये सब। आदिवासी जिन्दगी भर हाशियाकरण के शिकार बने रहे और पैरों तले गुलामी की जंजीरों से जकड़े रहे।

''काला पादरी'' में खाका कहता है ''आखिर एक-दो पीढ़ी पहले तो हमें अपने अस्तित्व का पता नहीं था ठीक से, और अब पता चल गया है तो कहते हैं कि भूज जाओ, तुम्हारा कुछ नहीं है, जो कुछ है प्रभु परमेश्वर का है और परमेश्वर का रास्ता मिशनरीज से होकर जाता है, माई फुट, मैं कहता हूँ, परमेश्वर का रास्ता हमारी छोटी-सी नदी ईब से होकर गुजरता है, हमारे पेड़ों और पहाड़ों से होकर जाता है, और तो और सोजेजिन मिंज की आँखों से होकर जाता है।'' वर्षो पहले से ही ये आदिवासी अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ते आ रहे हैं। हिन्दू और ईसाई दोनों की स्वार्थपरक चक्की में पिसते आ रहे हैं। उस चक्की की रोटी खा रहे हैं, दलाल, भ्रष्टतन्त्र और उच्चाधर्मी एवं अधिकारी लोग। अगर हम आदिवासी समाज के सम्पूर्ण इतिहास को देखें तो साफ-साफ नजर आयेगा कि उनका जीवन संघर्षों की एक महागाथा है। प्रो• हेमराज मीणा जी 'भूमिका' में लिखते हैं ''भारतीय आदिवासी समाज का इतिहास संघर्षो की गाथाओं से भरा पड़ा है। दुर्भाग्य से उसकी संघर्ष-यात्रा में संकट

घटने के स्थान पर बढ़ते ही जा रहे हैं। नयी सभ्यता या नयी आर्थिक नीतियों से उत्पन्न स्थितियाँ उसके जीवन को ज्यादा तंग कर रही है।''

आदिवासियों का सम्पूर्ण जीवन, संघर्ष एवं अन्तर्मनोद्वन्द्वात्मक पीड़ा से भरा हुआ है। आदिवासी जब से जन्म लेता है तब से उसके संघर्ष की करूण कहानी शुरू हो जाती है और फिर वृद्धावस्था में मरणोपरान्त ही खत्म होती है। उसका सम्पूर्ण जीवन गरीबी, भुखमरी के पैरों तले गिरती पड़ी होती है। उससे सब तरह से, शारीरिक, मानसिक आदि का शोषक समाज भरपूर उपयोग करता है। उनके गरीबी का नाजायज फायदा उठा करके रूपयों एवं अनाज का लालच देकर, चन्द कौड़ियों के भाव में उनका सम्पूर्ण अस्तित्व, अस्मिता अपने पैरों तले गिरवी रख लेता है। जिसका सूद और ब्याज पानी की तरह बढ़ता है। वह अपने गिरवी पड़े अस्तित्व को कभी भी उऋण नहीं कर पाता। 'काला पादरी' में कुछ ऐसा ही दृश्य है ''कुजूर जब दस साल का था तो उसका बाप उसे गोयल सेठ के पास लेकर आया था। दो हजार रूपये के कर्ज पर। उसने अपना लड़का सेठ के पास गिरवी रखा था। सेठ ने लड़के को घर पर रख लिया था। उसके बदले साल के साल दो बोरी चावल उसके बाप के पास पहुँचा जाते। इस तरह दो बोरी चावल के बदले उसकी उम्र एक-एक साल बढ़ती चली गयी। इस दौरान दो हजार रूपये का हिसाब सेठ के बही-खातों में धब्बा-धब्बा फैलाकर कुछ ऐसा आकार लेता गया

कि अल कुजूर की जिन्दगी से बड़ा हो गया'' दुनिया अपने को प्रगतिवादी कहते थकती नहीं है। वह यह नहीं जानती है कि औद्योगिकरण से सिर्फ उत्पादन और विकास नहीं होता, विस्थापन और विनाश भी होता है। इन उद्योगों के चलते गाँवों का शान्ति भरा जीवन, कई स्तरों पर, कई अर्थो में ध्वस्त होता गया है। व्यापारीकरण ने प्रकृति और मनुष्य दोनों को बधुँआ बना लिया। उनका इतिहास, परम्परा सब हाशिए पर चला गया। पाँव तले दूब में। स्पष्टत इस तरफ ध्यान आकर्षित किया गया है- ''लहू से ही लिखी जानी थी मेझिया की कहानी। यही वह जगह थी जहाँ विस्थापितों की लड़ाई में मैं कभी शरीक हुआ करता था। वर्षों पहले यहाँ 'डोकरी' और 'मकरा' नाम के दो गाँव हुआ करते थे। किसी ने फूँक मारकर उड़ा दिया था। कहाँ गये वे विस्थापित लोग? उड़ी हुई गर्द की तरह जहाँ-तहाँ थिरा रहे होंगे लोग!।'' इतिहास के पन्नों को हम पलट कर देखें तो आदिवासी समाज ने स्वतन्त्रता संग्राम और मुगलों की दासता-परम्परा के विरूद्ध कम संघर्ष नहीं किया है। मूगलों और अंग्रेजों को भी इनसे युद्ध में नाकों चना चबाने पड़े थे। औरंगजेब की दक्षिण नीति ने तो उसके साम्राज्य का पतन ही कर दिया था। रानी सिनगी बाई, चोट्टिमुण्ड़ा, सीधूकानू, रानी दुर्गावती, विरसा मुण्डा, एलबर्ट एक्का आदि ने देश की लाज बचाने मंे अपने प्राण तक गँवा दिये। आज उन्हीं देशभक्त की पीढ़ियों की अस्मत और अस्मिता के साथ हम खिलवाड़ कर रहे हैं। उनके कालेपन पर हम घृणा का रूख अख्तियार कर रहे हैं।

व्यक्ति यूँ ही नहीं विद्रोह पर आमादा होता है। जब उसके अधिकारों का हनन होने लगता है, उसके जीवन जीने की कला के हक को उससे ही छीना जाने लगता है। जब उसका मान-सम्मान, प्रतिष्ठा-ईमान सब हाशिए पर ढकेल दिया जाता है तब वह क्रान्ति की राह पकड़ता है। फिर उसे यह याद नहीं रहता कि उससे देश का हित होगा या अहित। और यह होना भी चाहिए क्योंकि जब उसके हित-अहित की बात आती है तो न तो सरकार ही साथ देती है और न यह झूठी विकासवादिता का ढोंग रचने वाला समाज ही। फिलिप जब जंगलों में आग लगा रहा होता है तब वह क्रोध में कहता है सुदीप्त से कि ''मुझे मत रोकिये, सर!...........ये जंगल हमारे होते तो हमारी सुनी जाती। ये जंगल हमारे होते तो इसे सुख्खू सिंह न करवा पाते, न ही सरदार इसे बाहर भेज पाते। हमारे होते तो, रोकने पर पुलिस हमीं को न पीटती। यह पूरा झारखण्ड अभयारण्य है सर! अभयारण्य इन सालों का और हम इनकी खुराक!।''

उपयुक्त विवरणों की जाँच-पड़ताल के बाद निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि आदिवासी समाज का इतिहास संघर्षो से भरा पड़ा है। जल, जंगल, जमीन के छिने जाने से इनके सामने गरीबी, भुखमरी, भय और बेरोजगारी जैसी समस्याएँ उत्पन्न हुई, जिसके चलते इन्होंने कई आंदोलन किये। इनके द्वारा अपने अधिकार के लिए किया जाने वाला

संघर्ष कालान्तर में समकालीन विमर्श के रूप में तब्दील हो गया। वास्तव में इनकी लड़ाई जमीनी हकीकत से जुड़ी हुई है। आज बहुत से आदिवासी लेखक, जो पढ़ लिख गये हैं अपनी करूण दास्ता को वह कलम बद्ध कर रहे हैं। इसके साथ ही गैर-आदिवासी लेखक भी इनकी पीड़ा को अपने-अपने माध्यमों से बुलन्द कर रहे हैं। आज कहानी, कविता, उपन्यास आदि सभी विधाओं में आदिवासी समाज के उत्थान के लिए लिखा जा रहा है, फिर भी आजादी उनके आक्रोश का कारण, आज नक्सलवाद ने ले लिया है। हमें सोचना होगा, चिन्तन करना होगा और आदिवासी समाज को उनका हक देना होगा। शिक्षा, रोजगार, चिकित्सकीय सुविधाएँ सब मुहैया करानी होगी लेकिन सिर्फ कागजों में नहीं हकीकत में, तब जाकर शायद नक्सलवाद खत्म हो पायेगा। इतिहास गवाह है कि दमन की नीति, जमीन हड़पने की नीति हमेशा से ही देश के लिए घातक सिद्ध हुई है। अब यह बिल्कुल बन्द होना चाहिए।

१.३ विस्थान का स्वरुप

विवेकानंद ने भारत के दलितों, गरीबों और आम जनता को झकझोरते हुए कहा था कि ये तथाकथित कुलीन लोग जिंदा लाशें हैं, अजगर है, देश और सभ्यता का बोझ है। वे अवाम पर जुल्म ढाने को ही सबसे बड़ा जीवन-धर्म समझते हैं। गांधी ने भी कहा था कि देश को

राजनीतिक आज़ादी केवल गरीबों की क्रांतिधर्मिता से मिलेगी। ये पढ़े-लिखे लोग तो अंग्रेजी व्यवस्था के दलाल हैं।

यह नया सिद्धांत प्रचलित और लोकप्रिय हैं कि सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विकास के लिए निर्णायक भूमिका बाजार को सौंप देनी चाहिए, सरकार को नहीं वैश्वीकरण ने आदिवासी जीवन और वनों को अपना शिकार बनाया, वनों में उपलब्ध पारंपरिक और प्राकृतिक संसाधनों में छिपी हुई अकूत संभावनाओं को ध्यान में रखकर।

उद्योगों के नाम पर इन स्रोतों पर कब्जा कर लेने का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक षड्यंत्र रचा गया। निजी उद्योगपति बाजार की सत्ता के केंद्र में हैं, आदिवासी, दलित, गरीब और मध्यवर्ग परिधि पर, और मंत्रिपरिषदें, नौकरशाह और तथाकथित विशेषज्ञ, नवोन्मेषी बुद्धिजीवी त्रिज्या की भूमिका अदा करने लगे हैं।

जैसे-जैसे स्थानीय या देशज कंपनियों की खाल ओढ़े इन वन क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधनों पर अपनी गिद्ध दृष्टि गड़ाए वैश्वीकरण धसता जा रहा है, आदिवासी को इतिहास की स्मृति बनाने का यत्न भी शुरु हो गया है। खनिज, वनोपज, जल, भूमि आदि के साथ-साथ आदिवासी संस्कृति को भी उत्पाद समझकर व्यापार के योग्य बना दिया गया है। तर्क यह है कि आदिवासियों के रहन-सहन बोलियों, जीवनयापन, संगीत, कलाओं आदि की समुच्चय-संस्कृति विश्व-बाजार की नई उपभोक्ता

वस्तु बना दिए जाने से आदिवासी-संस्कृति तालाब के बदले समुद्र के विस्तार का पर्याय समझी जाएगी। वह एक तरह से विश्व की सार्वजनिक संपत्ति बनती जाएगी।

अपनी धरती से आदिवासी की जबरिया बेदखली जमीन के एक टुकड़े से एक परिवार के विस्थापन का पर्याय भर नहीं है। यह समस्या पूरी दुनिया में आदिवासी झेल रहे हैं। एक ओर तो कल्याणकारी सरकारें बीच सड़क में बना दिए गए किसी धर्म-स्थान से घबराकर राष्ट्रीय राजमार्ग तक को मोड़ देती हैं। दूसरी ओर वही सरकारें बड़ी आसानी से विकास का मुखौटा ओढ़कर अंग्रेजी राज के भू-अर्जन अधिनियम, १८९४ के हथियार से हजारों आदिवासियों को उनकी जमीनों से बेदखल कर देती है।

यह प्रक्रिया लंबे समय से चल रही है। पहले जमींदारों, औपनिवेशिक ताकतों और बड़े भू-स्वामियों की महत्वाकांक्षाओं के कारण, अब खनिज ठेकेदारों, वन-शोषकों और बड़े कारखानों वाले उद्योगपतियों के कारण और वैसे भी आदिवासियों के भूमि संबंधी पुश्तैनी अधिकारों का लेखा-जोखा सरकारों के पास नहीं रहा है।

''अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आदिवासियों के पक्षधर प्रख्यात विद्वान एवं चिन्तक लेवी स्ट्रा ॅस ऐसे समय दुनिया से विदा (२८ नवम्बर, २००९) हुए जब भारत समेत धरती भर की जनजातियां 'सभ्यताओं' के

परोपकार से बचने का रास्ता ढूंढ रही हैं। शायद आदिवासी अपने समय से पीछे नहीं, गैर-आदिवासी अपने समय से कुछ ज्यादा आगे (पर्यावरा के विनाश के मुहाने तक) चले गए हैं। अंतिम दिनों में लेवी स्ट्रॉस कुछ निराश थे। उन्हें लगने लगा था कि भूमंडलीकरण और सांस्कृतिक एकरुपीकरण का अजगर जल्द ही जनजातियों के छोटे-छोटे समुदायों को निगल जाएगा।''

भारतीय स्टील प्राधिकरण लिमिटेड के राउरकेला संयन्त्र की स्थापना के एवज में वहाँ के आदिवासियों से जो वादे किये थे, उन्हे अरसे तक अधरझूल में लटकाये रखा। इसकी प्रतिक्रिया में कलिंगनगर में आन्दोलन हुआ। पुलिस की गोलीबारी में मारे गये तेरह आदिवासियों के शवों के साथ बेइज्जती की खबर और नारियल के वृक्षों की बेदर्दी से कटाई के विरोध में भड़के उग्र आन्दोलन को पड़ोसी राज्यों झारखंड व छत्तीसगढ़ से भी समर्थन मिला।

सतपुड़ा, बोटी तथा पंचमढ़ी अभयारण्यों से हुए प्रस्तावित विस्थापन के विरोध में होशंगाबाद जिला के पिपरिया कस्बा में हजारों आदिवासियों ने प्रदर्शन किया। तात्कालिक कारण छिट-पुट वनोपज के उपभोग पर पाबंदी रही थी। यह मुद्दा उक्त तीनों अभयारण्यों को मिलाकर सतपुड़ा राष्ट्रीय बाँध परियोजना से सम्बन्ध रखता है, जिसके भीतर ७५ तथा चारों ओर १०० आदिवासी गाँव आते है।

नन्दीग्राम में इन्डोनेशिया के सलीम ग्रुप से किये समझौते के आधार पर सुरक्षित आर्थिक क्षेत्र (सेज) के लिए भूमि अवाप्ति का विरोध वहाँ के आदिवासी व अन्य लोगों ने किया और सरकार को कानून व्यवस्था की स्थिति का सामना करना पड़ा। इसी प्रकार टाटा की नेनो कार के कारखाने के लिए भूमि आवंटित के मुद्दे पर सिंगूर क्षेत्र में ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हुई।

झारखण्ड पुलिस ने दुमका क्षेत्र में आदिवासियों की आठ से दस हजार की भीड़ पर गोलीबारी की जिसमें लखीराम टुडू की घटना स्थल पर ही मौत हो गयी और करीब दो दर्जन आन्दोलनकारी घायल हो गये। आदिवासियों का यह आन्दोलन आमगाछी व पोखरिया क्षेत्र में १००० मेगावाट का कोयला आधारित ऊर्जा संयन्त्र स्थापित करने के विरोध में था। पहले यह आन्दोलन एक माह से शान्ति पूर्ण तरीके से चला लेकिन आदिवासियों की सुनवायी नहीं होने से आगे चलकर उग्र हो गया। इस आन्दोलन के केन्द्र में प्रमुख कारण क्षेत्र के आदिवासियों की भूमि की अवाप्ति था जो विस्थापन के मुद्दे से जुड़ा हुआ था।

विस्थापन से सम्बन्धित इन कतिपय समाचारों की पृष्ठभूमि में जब हम विषय प्रवेश करेंगे तो आरम्भ में यह तथ्य सामने आयेगा कि ढाई करोड़ डि-नोटीफाइड और साढ़े आठ करोड़ अनुसूचित आदिवासी कुल मिलाकर करीब ११ करोड़ की जनसंख्या भारत में हैं जो

फ्रांस व ब्रिटेन की सम्पूर्ण तथा आस्ट्रेलिया की आबादी का चार गुना हैं। आदिवासियों की सर्वाधिक आबादी अफ्रीका महाद्वीप के पश्चात् भारत में है। भारत के प्रांतों की दृष्टि से मध्य प्रदेश में अन्य राज्यों की तुलना में आदिवासियों का प्रतिशतांक सर्वाधिक हैं।

परम्परागत रुप से आदिवासी-जीवन जंगलों पर आधारित रहता आया है। जंगल और आदिवासी सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर फलते-फूलते रहते आये है। आज़ादी के बाद भारत की १५०० बड़ी सिंचाई परियोजनाओं के कारण। ६ करोड़ की आबादी विस्थापित हुई इनमें ४० प्रतिशत आदिवासी थे। इसके प्रमुख प्रभावों में वन केन्द्रित आदिवासियों के जीविकोपार्जन के परम्परागत संसाधनों का छिन जाना और आदिवासी सामाजिक-सांस्कृतिक धरोहर को खतरा के रुप में पहचाना गया। इस सब की वजह प्रभावी कानूनी प्रणाली की कमी, परियोजनाओं के पीछे विकास के साथ-साथ व्यवसायिक निहित स्वार्थ और विकास के नाम पर अनुचित हस्तक्षेप रहे।

तकनीकी विकास के कारण विकास के नाम पर यह हस्तक्षेप वर्तमान समय में और अधिक आसान और तेज हो गया है। इसके पीछे वैश्विक पूँजी, इस पूँजी पर सवार नव साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, आई•बी•आर•डी• जैसी एजेन्सियाँ है जिन्होंने प्राकृतिक संसाधनों के दोहन को तेज कर दिया। ऐसे अधिकतर

संसाधन आदिवासी इलाकों में रहे है और जिनका संरक्षण आदिवासी समाज करता आया है।

१९८० के दशक में विश्व बैंक ने सात अरब डाॅलर विकास से सम्बन्धित बड़ी परियोजनाओं के लिये दिये जबकि इस राशि का मात्र पाँचवा हिस्सा विश्व के शेष ८५ देशों को दिया। सभी विशाल बाँध परियोजनाएँ विश्व-पूँजी के प्रभाव में रही। इनमें से ६० प्रतिशत बाँध परियोजनाएं उस क्षेत्र में है, जहाँ भारत की ८० प्रतिशत आदिवासी जनसंख्या निवास करती रही है।

केवल बाँध परियोजनाओं की वजह से भारत की करीब ५० से ७० लाख आदिवासी जनसंख्या का विस्थापन हुआ। इसके बाद खनन व अन्य औद्योगिक इकाइयों के कारण विस्थापन का संकट सामने आया। एक अनुमान के तहत प्रति दस में से एक आदिवासी विस्थापन की त्रासदी भोगने को विवश हुआ हैं।

तथाकथित विकास के इस क्रम में आदिवासी समाज ने अपनी सामूहिक पहचान तथा ऐतिहासिक सांस्कृतिक विरासत खोयी है एवं उनके बाँटें में और कुछ नहीं आकर गरीबी, कुपोषण, मृत्यु दर में वृद्धि, अशिक्षा, बेरोजगारी, ऋण एवं खेतिहर मजदूरी आया। वैश्वीकरण के विस्तार के साथ-साथ निजीकरण की प्रक्रिया तेज होने के कारण

आदिवासियों को दिये जाने वाले संवैधानिक आरक्षण के लाभ भी मिलने में बाधा आने लगी।

अनेक अध्ययनों से यह निष्कर्ष सामने आये हैं कि ९० के दशक में जिस कदर वैश्वीकरण-निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों को अंधाधुंध तरीकों से लागू किया, उसकी वजह से गरीबी ने १५ करोड़ लोगों को प्रभावित किया। इस जनसंख्या का एक तिहाई आबादी आदिवासी-समाज की रही।

आदिवासी दृष्टिकोण से वैश्वीकरण का दुष्प्रभाव अब स्पष्ट रूप से सामने आने लगा है, देशी-विदेशी कम्पनियों का इस कदर व्यवस्था पर वर्चस्व कायम होगा यह किसी से उम्मीद नहीं की थी विज्ञान एवं पर्यावरण केन्द्र (ए•सी•ई•) की निदेशक सुनीता नारायण ने सितम्बर २०११ में रपट जारी करते हुए यह तथ्य उजाकर किया कि ११वीं पंचवर्षीय योजना के तहत इतनी परियोजनाओं को वन एवं पर्यावण मंत्रालय ने स्वीकृति दे दी जो १२वीं पंचवर्षीय परियोजना के लक्ष्य से भी अधिक है। रपट में यह खुलासा किया गया है कि वर्ष २००७ से २०११ की आबादी में देश के तमाम क्षेत्र प्रस्तावित विकास परियोजनाओं को दी गई मंजूरियों से यह नहीं सोचा गया कि ताप, ऊर्जा, कोयला, सीमेन्ट, स्टील एवं अन्य इकाइयों को अर्थात् कुल मिलाकर ८२८४ परियोजनाओं के लिए दो लाख तीन हजार पांच सौ छिहत्तर हेक्टेयर वन भूमि औद्योगिक

संस्थाओं को दी गई जो पिछले तीस वर्षों में इस्तेमाल की गई वन भूमि का २५ प्रतिशत है। अकेले वर्ष २००९ में ही सबसे अधिक सत्तासी हजार आठ सौ तिरासी हेक्टेयर भूमि का इस्तेमाल विकास परियोजनाओं में किये जाने की मंजूरी दी गई।

सी.एस.ई. के उप महानिदेशक चन्द्र भूषण ने सवाल उठाया कि ''जब पहले से मंजूर परियोजनाओं पर काम शुरू नहीं हुआ ऐसे में नई परियोजनाओं को मंजूरी देने में इतनी तेजी दिखाने के पीछे सरकार की क्या मंशा है ? क्या यह जल, जमीन, जंगल पर निजी क्षेत्र के कब्जा करने का कोई नया घोटाला है? इनमें तमाम ऐसे मामले शामिल हैं जिनमें वन और पर्यावरण मंत्रालय की मंजूरी की आड़ में कम्पनियां खानों, पानी व कोयले का लाइसेंस ले रही है। यह उन्हें राज्य स्तर पर ही मिल जाता है। केन्द्रीय नियंत्रण बोर्ड ने जिन इलाकों को अत्यधिक प्रदूषित बताते हुए वहाँ नये संयंत्र न लगाने की सिफारिश की थी उन इलाकों में भी बड़े पैमाने पर नई परियोजनाओं को हरी झण्डी दी गई। सी•एस•ई• ने ऐसी मंजूरियों को रद्द करने की मांग की है। ऐसे इलाकों में चन्द्रपुर, धनबाद, रायपुर वगैरह शामिल है।''

नियमित रूप से आदिवासी-जन भारतीय समाज का हिस्सा हैं, लेकिन परम्परा एवं संस्कृति की दृष्टि से वे भारतीय समाज से पृथक हैं। उनके लिए नीति निर्धारण पृथक से होना चाहिए है तभी उनका

विकास सम्भव हो सकेगा, अन्यथा वे लुप्त होती मानव प्रजाति की श्रेणी में ही स्थान पा सकेंगे और भविष्य में 'म्यूजियम' की वस्तु के रूप में स्मृति के स्तर पर शेष रह जायेगें।

वैश्वीकरण के लाभ जिन व्यक्तियों व राष्ट्रों को मिले हैं, उनमें अमरीका, यूरोप, जापान जैसे-देश धनी देश, धनाढ्य व उच्च कौशल प्राप्त व्यक्ति, व्यावसायिक प्रबंधकीय-तकनीकी लोग, लोकसेवा से पृथक जन, बड़ी फर्म, तकनीकी व पेचीदा प्रक्रिया पर आधारित-उत्पाद के विक्रेता, वैश्विक भद्र वर्ग, बाजारवादी व ब्रांडिंग फर्म एवं जिनको हानि हो रही है उनमें अनेक विकासशील देश, गरीब लोग, निम्न कौशल वाले व्यक्ति, श्रमिक, लोक सेवा पर आधारित व्यक्ति, छोटी फर्म, आधारभूत और मानक वस्तुओं के विक्रेता, वैश्विक आमजन एवं वे फर्म जिनकी बाजार में पहुँच कम होती है तथा कोई प्रचारित ब्रांड नहीं रखती।

वैश्वीकरण से लाभान्वित होने वाली श्रेणियों में आदिवासी समाज कहीं नहीं टिकता। वह कहीं है तो नुकसान के खाते में ही शामिल दिखायी देता है।

परम्परागत बस्तियों से किसी का भी विस्थापन भरी त्रासदी का कारण बनता और आदिवासी तो अपना परिवेश किसी भी दृष्टि से नहीं छोड़ना चाहता, चाहे उसे कितने भी प्रलोभन दिये जायें। वह परम्परा व प्रकृति से बंधा हुआ रहता आया है।

बांध परियोजना, राष्ट्रीय उच्च मार्ग, रेलवे लाईन, खनन व्यवसाय, औद्योगीकरण, अभारण्य एवं अन्य कारणों से आदिवासियों का अनिवार्य विस्थापन होता है तो एक तरह से उन्हें अपनी पारम्परिक जमीन व परिवेश से खदेड़ने को विवश किया जाता है। इसकी वजह से उनकी जीविका के आधार भी समाप्त होते हैं। प्रश्न उठता है उनके जीविकोपार्जन के विकल्प तलाश किये जाने का।

उक्तानुसार आदिवासियों का विस्थापन भारतीय संविधान की पाँचवीं सूची के प्रावधानों का खुल्लम खुल्ला उल्लंघन है, जिसके तहत आदिवासियों को उनकी पुश्तैनी जमीन और प्राकृतिक संसाधनों पर मालिकाना अधिकारों की गारन्टी दी गयी है।

यही वजह रही की आदिवासियों के लिए बनायी गयी राष्ट्रीय नीति में स्पष्ट प्रावधान रखे गये कि विकास की प्रक्रिया में आदिवासियों का विस्थापन कम से कम किया जाये और अगर विस्थापन अति अनिवार्य है तो पुनर्वास के रूप में जीवन का बेहतर स्तर सुनिश्चित किया जाये। इसीलिए राष्ट्रीय नीति में निम्न प्रावधान रखे गयेः

१. भूमि के एवज में कम से कम दो हेक्टेयर उपजाऊ जमीन जिसमें एक परिवार आसानी से गुजारा कर सके।

२. मछली उत्पादन की जगह मछली उत्पादन हेतु सुविधा।

३. नये स्थान पर आरक्षण के लाभ।

४. वनोपज पर अधिकारों की समाप्ति के बदले अतिरिक्त वित्तीय सहायता जो छह माह से एक वर्ष की न्यूनतम कृषि-मजदूरी के समान हो।

५. एक जैसे आदिवासी लोगों को (एक स्थान से विस्थापित) पुनर्वास स्थल एक ही दिया जाये और वह भी जहाँ तक सम्भव हो प्राकृतिक परिवेश में, ताकि उनकी वंश परम्परा एवं सामाजिक-सांस्कृतिक-भाषाई सम्बन्ध अन्यथा प्रभावित नहीं हो।

६. सामाजिक-धार्मिक आयोजनों के लिए भूमि मुफ्त में उपलब्ध करायी जाये।

७. यदि विस्थापन मूल जिला या तहसील से बाहर होता है तो आर्थिक दृष्टि से अधिक मुआवजा दिया जाये।

८. साामूहिक विस्थापन की दशा में नये स्थान पर पानी, बिजली, सड़क, स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा, उचित मूल्य की दुकान, सामुदायिक केन्द्र, पंचायत कार्यालय आदि सभी सुविधाएँ उपलब्ध करायी जायें।

भारत की वन नीति में स्पष्ट रूप से जंगलों में रहने वाले आदिवासियों के गाँवों को बकायदा 'वन्य-ग्राम' की संज्ञा दी गई हैं और यह भी प्रावधान रखे गये हैं कि राजस्व गाँवों की तरह सारी सुविधाएँ

वन्य गाँवों को उपलब्ध करायी जाये जिनमें शिक्षा, चिकित्सा, विद्युत, संचार, सड़क सार्वजनिक वितरण प्रणाली, अनाज भण्डार, विकसित कृषि की सुविधाएँ, पशु-चिकित्सालय, बैंक, सहकारी संस्थाएँ, छिटपुट वनोत्पाद का उपभोग, बिचैलियों के शोषण से मुक्ति की व्यवस्था आदि-आदि शामिल हो।

आदिवासी विकास की समस्या अत्यन्त जटिल रही हैं और इसकी एकमात्र वजह यह रही है कि उनके विकास की बात उनकी जीवन शैली, सांस्कृतिक परम्पराओं एवं मनोदशा को ध्यान में रखकर नहीं की गई हैं। पं• जवाहर लाल नेहरू ने आदिवासी विकास के पंचशील तय किये थे जो निम्न प्रकार से हैं-

१. आदिवासी परम्परागत कला व संस्कृति पर जोर दिया जाये।

२. आदिवासियों के जंगल व जमीन पर अधिकारों का सम्मान किया जाये।

३. प्रशासन एवं विकास में आदिवासियों के प्रतिनिधित्व को महत्व दिया जाना चाहिये। तकनीकी विशेषज्ञ शुरूआत में बाहर से लाये जा सकते हैं अन्यथा बाहरी व्यक्तियों के हस्तक्षेप को नहीं के बराबर रखना चाहिये।

४. आदिवासियों के क्षेत्र में प्रशासनिक व्यवस्था सुनिश्चित की जानी चाहिये।

५. आदिवासी विकास का मापदण्ड खर्च की जाने वाली राशि एवं विकास के आंकड़ों पर आधारित न होकर विकास की गुणवत्ता के आधार पर होनी चाहिये।

आदिवासी मुद्दों के विशेषज्ञ स्वयं वेरियर एलविन ने भी इस बात पर बल दिया कि भारतीय समाज के लिए आदिवासियों का जो परम्परागत अवदान हैं उसका सम्मान किया जाना चाहिये एवं इस अवदान को भारतीय समाज में उत्थान के सहायक के रूप में देखना चाहिए न कि आदिवासी समाज को भारतीय समाज से पृथक।

आदिवासी विकास के प्रमुख दृष्टिकोण निम्न प्रकार सामने आते हैं-

अ. राजनैतिक दृष्टिकोण से आदिवासी समाज को संविधान में पृथक रूप से पिछड़ा वर्ग माना गया है। उनके अधिकारों के संरक्षण एवं विकास के लिए विशेष प्रावधान रखे गये हैं।

ब. प्रशासनिक दृष्टिकोण राजनैतिक दृष्टिकोण पर आधारित रहा है। इसके लिए आदिवासी कल्याण मंत्रालय, आदिवासी क्षेत्र के विकास के लिए योजनाएँ, आदिवासी परामर्श परिषद, आदिवासी शोध संस्थान, आदिवासी आयोग आदि की व्यवस्था की गई है।

स. धार्मिक दृष्टिकोण से हिन्दू व ईसाई धर्म नायकों द्वारा आदिवासियों के धर्मान्तरण को उनके उत्थान का एक मात्र विकल्प मान लिया। इस दृष्टि से पूर्वोत्तर राज्यों के सन्दर्भ में ईसाई मिशनरियों की भूमिका सराहनीय कही जा सकती है, लेकिन परम्परागत व सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखा जाये तो इस तरह आदिवासियों का विकास नकारात्मक स्वरूप ग्रहण करता आया है।

द. स्वयंसेवी संगठनों के दृष्टिकोण से समाज सुधारकों को व गैर-सरकारी संगठन के कार्यकर्ताओं द्वारा आदिवासियों को एक तरह से बैसाखीनुमा सम्बल देकर उनके उत्थान की बात कहीं जा रही है। आदर्शवादी मानवतावाद इस केन्द्र में रहा है।

य. नृतत्वशास्त्रीय दृष्टिकोण से आदिवासियों के उत्थान की समस्याओं को विद्वानों ने समझने का प्रयास किया हैं उनका निष्कर्ष यह है कि जब तक आदिवासी समाज भारतीय मुख्य समाज का हिस्सा नहीं बनता तब तक आदिवासी जन अलग-थलग रहेंगे और जब तक यह स्थिति रहेगी तब तक आदिवासियों का विकास सम्भव नहीं हैं। इसके लिए बहुयामी दृष्टिकोण अपनाना होगा जिसका आधार नृतत्व शास्त्रीय अध्ययनों के अलावा और कुछ नहीं हो सकता। यह दृष्टिकोण आदिवासी परम्परा व मनोदशा को समझने में सहायक हो सकता हैं। लेकिन भौतिक विकास के साथ उनके समृद्ध परम्परागत मूल्यों के संरक्षण की समस्याओं का

समाधान नहीं करता। इस दृष्टिकोण का प्रमुख जोर राष्ट्र समाज के परिप्रेक्ष में आदिवासी उत्थान को देखने पर हैं। प्रो• राय वर्मन एवं डाॅ• बी•डी• शर्मा जैसे विद्वानों ने आदिवासी विकास की कुंजी गांधीवादी दर्शन में तलाशने के प्रयास किये हैं।

मार्क्स ने लिखा है कि किसी भी समाज में परिवर्तन के लक्षण भीतर से हो, उसके पहले ही उस पर बाहर से परिवर्तन लाद दिया जाये तो वह समाज एक किस्म के सांस्कृतिक अपवाद में जीने को बाध्य हो जाता है। आदिवासी विकास का मुद्दा कुछ इस तरह का है और इसीलिए विकास के ऐसे माॅडल को आदिवासी अपनाने से झिझकता है।

यद्यपि पं• जवाहर लाल नेहरू ने विकास के नीति निर्देशक तत्व तय कियेे उनके सन्दर्भ में आदिवासी विकास के मुद्दों को देखना चाहिए, लेकिन वैश्वीकरण के इस दौर में यह समस्या और जटिल हो जाती है? वहाँ आदिवासी सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण, विकास, आदिवासियों की हिस्सेदारी एवं प्रशासनिक स्वायत्ता के मुद्दों, भू-मण्डलीय वातावरण एवं दवाबों से पृथक कैसे रखा जाये यह सबसे बड़ा प्रश्न हमारे सामने है। छत्तीसगढ़ में विस्थापन का एक अनूठा उदाहरण समक्ष आया, जिस पर विमर्श होना चाहिए।

आदिवासी बहुल इस प्रांत की २७ प्रतिशत आदिवासी आबादी बस्तर जिला में रहती हैं। बस्तर की कुल आबादी का ७० प्रतिशत

आदिवासी हैं जिसमें अधिकांश लोग घने जंगलों में रहते हैं। इसी क्षेत्र में गत करीब २५ वर्षों में माओवादी संगठन सक्रिय रहे हैं।

'सल्वा जुडूम' नामक एक आन्दोलन वहाँ चला जो माओवादी नक्सलियों के विरोध में था। नक्सलवादियों द्वारा तथाकथित सताये गये आदिवासियों, उनके मुखिर, सूदखोर आदि को सरकार द्वारा विशेष पुलिस अधिकारी नियुक्त किया और इस आन्दोलन का नेतृत्व उन्हें सौंपा गया।

'सल्वा जुडूम' अर्थात् लोगों का (तथा कथित) संयुक्त मिशन। तथ्य यह सामने आया कि जब 'सल्वा जुडूम' आन्दोलन आरम्भ हुआ तब से वर्ष २०११ के मध्य तक उस इलाके में २५० आदिवासियों की हत्या हुई, १०० आदिवासी महिलाओं के साथ सामूहिक बलात्कार हुआ, आदिवासियों के ३००० घर जलाये गये। यह सब ६०० आदिवासी गाँवों में हुआ और परिणाम स्वरूप ५०००० आदिवासी विस्थापित होने को विवश कर दिये गये, जो पुनर्वास शिविरों में रहने की त्रासदी भोगते रहे।

राज्य समर्थिक इस आतंक की तह में था आदिवासी क्षेत्र (दांतेवाड़ा) में टाटा कम्पनी द्वारा 'आयरन ओर' का खनन। टाटा के अलावा क्षेत्र के प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए अमरीकी कम्पनी 'टेक्सास पावर कार्पोरेशन' से भी समझौता किया गया। कुल

मिलाकर छत्तीसगढ़ सरकार ने विभिन्न खनन कम्पनियों से १३० लाख डाॅलर के समझौतों पर हस्ताक्षर किये।

माओवादियों की सक्रियता के कारण छत्तीसगढ़ सरकार के लिए बहुत मुश्किल था कि इस आदिवासी क्षेत्र में देशी-विदेशी पूँजीपतियों की राह आसान कर सके। इसलिए 'सल्वा जुडूम' जैसे आॅपरेशन आरम्भ किये गये। निश्चित रूप से नक्सलियों ने इसका विरोध किया था और आदिवासियों में से अधिकांश ने उनका साथ अपने हितों की दृष्टि से ही दिया होगा।

इस अनूठे विस्थापन और राज्य संचालित आतंक के विरोध में स्थानीय आदिवासी एकजुट हुए और उन्होंने 'सल्वा जुडूम' के अत्याचारों के विरूद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन चलाया। 'सल्वा जुडूम' के पीड़ितों की सहायता के लिए एक समिति का गठन किया गया जिसका नाम था 'क्रान्तिकारी संगीत दल', जो आदिवासियों के दुख-दर्दो से आपूरित गीतों को गा-गाकर सुनाने लगा। इस दल ने छत्तीसगढ़ ही नहीं, देश के दर्जन भर प्रांतों के आदिवासी इलाकों में भ्रमण किया। तथ्य यह सामने आया कि ५०००० आदिवासियों को बलपूर्वक शरणार्थी शिविरों में रहने के लिए 'सल्वा जुडूम' ने बाध्य किया जहाँ जीने के लिए आधारभूत सुविधाओं का अभाव था और जो सल्वा जुडूम के विशेष पुलिस अधिकारियों के घेरे में रहने को विवश थे ताकि यन्त्रणा शिविरों से भाग भी न सकें।

हालात की गम्भीरता प्रचारित-प्रसारित हुई और आखिर बुद्धि जीवियों का एक दल जाँच करने बस्तर गया जिसमें इतिहासकार रामचन्द्र गुहा, (बंगलूरू) 'प्रभात खबर' के संपादक हरिवंश, (राँची) लेखक एवं सामाजिक कार्यकर्ता फराह नकवी (दिल्ली) भारत सरकार के सेवा निवृत्त सचिव ई•ए•एस• सरमा (विशाखापत्तनम), दिल्ली विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग की प्रोफेसर नन्दिनी सुन्दर और 'इन्डियन एक्सप्रेस' व 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के पूर्व सम्पादक वी•जी• वर्गीस भी शामिल थे।

इस दल ने निष्कर्ष निकाला कि 'बस्तर के आदिवासियों की दशा बहुत खराब है। 'सल्वा जुडूम' के नाम से जो तथाकथित 'शांति खोज' का सरकारी आॅपरेशन चलाया गया वह आदिवासियों पर अत्याचारों का नायाब उदाहरण हैं जो आश्चर्यजनक है।' ध्यातव्य है कि सर्वोच्च न्यायालय ने (जुलाई २०११) के निर्णय में सल्वा जुडूम के कदम को अवैधानिक करार दिया है।

गत एक दशक में औद्योगिक परियोजनाओं की वजह से केवल चार प्रांतो यथा आंध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड और ओड़िसा में १४ लाख लोग विस्थापित किये गये। 'एक्शन एंड इण्डिन सोशियल इन्स्टीट्यूट' और 'लाया' संगठन द्वारा किये गये सर्वेक्षणों से यह तथ्य समक्ष आया। सर्वे-क्षेत्रों में विस्थापितों का ७९ प्रतिशत अनुसूचित आदिवासी थे। जबकि भारत की कुल आबादी का आदिवासी लोग मात्र

८.६ प्रतिशत है। विस्थापन के कारण आदिवासियों को अपनी जमीन, जीविका, पुश्तैनी आवास और पूजा स्थलों के साथ-साथ प्रकृति और वन्य जीवों के परिवेश से बेदखल होना पड़ा। इसके साथ-साथ उनके कुएँ, श्मशान स्थल, तालाब, नदी, झरने आदि छूट गये और उन्हें अपनी जीवन शैली बदलने की मजबूरी सहनी पड़ी जो उनकी हजारों वर्षो की परम्परा को छिन्न-भिन्न करने का कारण बना। सर्वाधिक नुकसान हुआ उनकी सामूहिकता और सामाजिक सुरक्षा को इस सबके लिए इस क्षेत्र में केवल चार ही परियोजनाएँ उत्तरदायी रही जो हैं- वेदांत रिफाइनरी (ओड़िसा) पोल्लवरम बाँध (आन्ध्र प्रदेश), टाटा आइरन और (छत्तीसगढ़) और सुवर्ण रेखा परियोजना (झारखंड)।

इन सर्वेक्षणों से यह तथ्य समझ आया कि ६६ प्रतिशत विस्थापितों का पुनर्वास सरकार के स्तर पर नहीं किया गया और उन्हें अपने हाल पर जीवन गुजारने को विवश होना पड़ा। विस्थापितों में से ८६ प्रतिशत ने अन्य जागरूक लोगों के सहयोग से इस विस्थापन का आरम्भ से तीव्र विरोध किया।

इस संदर्भ में एक विडम्बना यह रही है कि विकास के नाम पर सम्भावित विस्थापन का विरोध उस सोपान पर आरम्भ होता है जब सारे अन्तिम निर्णय लिये जा चुके होते हैं। इसकी वजह यह है कि इस तथाकथित अन्तिम निर्णय लिये जा चुके होते हैं। इसकी वजह यह है कि

इस तथाकथित विकास का माध्यम या लाभकारी पक्ष (सरकारी या निजी) परियोजना संबंधी नीति-निर्धारण की प्रक्रिया से आरम्भ से जुड़ा रहता है और जिन लोगों की कीमत पर यह सब कुछ होने जा रहा होता है, उन्हें अन्त में पता लगता है कि उन्हें बेदखल करने का फैसला सरकार ने राज्य, केन्द्र और विश्व स्तर पर ले लिया है। उल्लेखनीय है कि ऐसे निर्णयों की प्रक्रिया बहुत लम्बी होती है। इन चार परियोजनाओं के मामले में जमीन अधिग्रहण सम्बन्धी कुल २२७५५ गजट नोटिफिकेशन और ३६३० अन्य राजकीय दस्तावेज तैयार किये गये। अगर तथाकथित मुख्यधारा से किन्ही व्यक्तियों से सम्बन्धित कोई मुद्दा होता तो पहले ही दस्तावेज की प्रति उन तक पहुँच जाती और वे लोग ऐसे मामलों को अदालतों में उलझा देते और दशकों तक फैसला नहीं होने देते या अपने पक्ष में करवा लेते। मगर अपनी अलग-थलग दुनिया में रहते आये आदिवासियों को यह सब करना नहीं आता। उन्हें ये पता लगाना कठिन होता है कि उनके विरूद्ध कौन और कहाँ षड़यंत्र रच रहा है ?

आदिवासी कल्याण एवं विकास के लिए निर्मित राष्ट्रीय सलाहकार परिषद के सदस्य डाॅ• डी• स्वामीनाथन द्वारा तैयार किये गये प्रायप पत्र के आरम्भ में उन्होंने स्वीकार किया है कि 'निश्चित रूप से विगत अरसे में आदिवासियों की स्थिति में सुधार हुआ है लेकिन गैर आदिवासियों की तुलना में इनके हालात हर क्षेत्र में खराब हुई।'

केवल विस्थापन के कारण आदिवासी उत्थान की अन्य सारी गतिविधियाँ बाधित हो जाती चाहे वह शिक्षा, स्वास्थ्य, पेय-जल, सड़क, संचार, आवास और जीविकोपार्जन आदि किसी भी अहम मसले से जुड़ी हुई क्यों न हो।

डाॅ• स्वामीनाथन द्वारा तैयार किये गये प्रारूप पत्र में बड़े चैंकाने वाले तथ्य सामने आये हैं। औद्योगिकरण और विकास से सम्बन्धित विभिन्न परियोजनाओं के कारण आजादी से वर्ष १९९० तक की अवधि में जो आदिवासी विस्थापित हुए उनका पूरी तरह पुनर्वास नहीं हुआ। विस्थापित आदिवासियों की कुल संख्या ८५.३९ लाख रही जो कुल विस्थापितों का ५५.१६ प्रतिशत थी। विस्थापित आदिवासियों में ६४.२३ प्रतिशत अब भी पुनर्वास से वंचित हैं। निश्चित रूप से अपनी जड़ व जमीन से उखड़ी यह अपुनर्वासि मानवता झोपड़-पट्टियों व फुटपाथों के सहारे रहती है या फिर शरणार्थियों अथवा डेराबन्दी घुमक्कड़ी जीवन जीने को विवश है।

ऐसी बड़ी संख्या के मनुष्यों के दिलो-दिमाग में उनकी लम्बी परम्परा, संस्कृति, मूल्य-व्यवस्था, कला, प्रकृति प्रेम, श्रम की महत्ता, सामूहिकता, वन्य जीवों का परिवेश, सुरक्षित परिवेश, निश्ंिचतता, अल्हड़पन, मस्ती एवं सबसे ऊपर उनकी स्मृतियां और स्वप्न आदि को लेकर क्या कुछ घटित हो रहा होगा, इस सबका अंदाज हर कोई कैसे

लगा पायेगा। डेविड पुघ ' इन्टरनेशानल लीग ऑफ पिपुल्स स्ट्रगल' से सम्बन्धित रहे हैं। विस्थापन से सम्बन्धी कुछ तथ्यों का जिक्र उन्होंने अपने अध्ययन में किया है।

महाराष्ट्र के न्यू मुम्बई में रिलायंस सुरक्षित आर्थिक क्षेत्र (सेज) के कारण २५०००० व्यक्तियों के विस्थापन की सम्भावना हुई। कुल ३५००० एकड़ भूमि के अधिग्रहण का तीव्र विरोध हुआ।

झारखण्ड की एन•टी•पी•सी• (नेशनल थर्मल पावर का ॅरपोरेशन) परियोजना के कारण कनकपुरा घाटी के १८६ गाँवों के कुल ३ लाख में से २ लाख लोगों पर विस्थापन का संकट गहराया १ नवम्बर, २००६ में १०००० आदि वासियों ने एकत्रित होकर इसका विरोध किया। जैसे ही एन•टी•पी•सी• ने अपना दफ्तर खोला ३००० की भीड़ ने उसे नष्ट कर दिया। एक तरफ परियोजना को सफल बनाने की जिद रही है दूसरी ओर विरोध अभी भी जारी रहा।

ओड़िसा के जगतसिंहपुर क्षेत्र में पोस्को (कोरिया की कम्पनी) को राज्य सरकार ने आइरन ओर के प्लांट हेतु ४००० एकड़ जमीन दी। २२००० लोगों पर विस्थापन की तलवार लटकी जिसका विरोध हुआ और सम्भावित विस्थापितों ने प्रभावी नाकाबन्दी की ताकि इलाके में कोई प्रवेश न कर सके।

छत्तीसगढ़ में विभिन्न परियोजनाओं से संबंधित करीब ३ लाख आदिवासी विस्थापितों की लड़ाई डाॅ॰ विनायक सेन लड़ रहे थे जो उन्हें जेल में ठूंस दिया। ता॰ १९ अप्रैल २००९ के 'हिन्दू' अखबार में डाॅ॰ सेन की अवैध हिरासत के विरोध में सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायाधीश वी॰आर॰ कृष्णा अय्यर द्वारा भारत के प्रधानमंत्री के नाम लिखा लम्बा पत्र छपा जिसमें स्पष्ट बताया कि ऐसी हिरासत भारतीय लोकतंत्र के लिए खतरा हैं। अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय में डाॅ॰ सेन को मुक्त करने के आदेश दिये। अमानवीय विस्थापन के विरूद्ध मुंह खोलने वालो का यह हश्र होना हर किसी को विचलित कर देगा।

डेविड पुघ का निष्कर्ष निम्नप्रकार हैः

१. बाँध, औद्योगिक इकाइयों, खनन और सेज के कारण आगामी एक दशक में करीब एक करोड़ लोगों के विस्थापित होने की सम्भावना है।

२. विस्थापन का प्रतिरोध करने की भारतीय लोगों में अकूत ताकत है।

३. विस्थापन के सत्य को लेकर भारत सरकार (केन्द्र व राज्य तथ्यों के बारे में गलतबयानी करती है और सही आन्दोलन को सशक्त बलों द्वारा कुचलने का अनायस कार्य करती है।

पूर्वोत्तर भारत में विस्थापन की समस्या को लेकर प्रो• मोनीरूल हुसैन (गोहाटी विश्वविद्यालय) द्वारा लिखित शोध परक महत्वपूर्ण पुस्तक में उस क्षेत्र के विस्थापन को लेकर विस्तार से लिखा है।

भू-आपत्ति अधिनियम के तहत विकास के नाम पर विस्थापितों की भूमि अधिग्रहित की जाती है। इस कानून को प्रो• हुसैन ने सामन्तवादी कानून कहा है। उनका प्रश्न है कि भूमि अधिग्रहण सम्बन्धी कानूनी जितना ताकतवर है उतना जिम्मेदार कानून पुनर्वास सम्बन्धी क्यों नही है? इनकी इस बात में दम है, चूँकि अब तक देश में किसी भी बड़ी परियोजना के ऐवज में विस्थापितों का पूरा एवं संतोषप्रद पुनर्वास नहीं हुआ है। उनका यह भी तर्क है कि जिस मकसद से विशाल परियोजनाएँ लागू की जाती है, वह मकसद इन परियोजनाओं के लागू करने से पूरा नहीं होता। दूसरे', विस्थापन का मुद्दा, भूमि अधिग्रहण तक ही सीमति नहीं है। रहकर विस्थापितों की जीविका, संस्कृति व समुदाय तक हो तहस-नहस कर देता है। पूर्वोत्तर के विशेष सन्दर्भ में हेसैन का यह भी कहना है कि बड़ी परियोजनओं को लागू करने की बजाय उन्हें भयंकर भूमि को पुनः सम्बन्धित विस्थापितों को देने से राज्य व विस्थापित दोनों को लाभ मिलता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने दुम्बर परियोजना को भंग करने का दृष्टांत सामने रखा। त्रिपुरा के जल ऊर्जा परियोजना द्वारा आशा से कम विद्युत उत्पादन के कारण उसे बन्द कर

अवाप्त भूमि को विस्थापित आदिवासियों को वापस देना कुल मिलाकर लाभदायक रहा न कि परियोजना को चालू रखना।

विस्थापन को लेकर यह एक महत्वपूर्ण मुद्दा है कि जिन लोगों का विस्थापन होता है, सम्बन्धित परियोजना से उन्हें कोई लाभ नहीं मिलता। यह पक्ष भी विचारणीय है।

जून २००८ में रंगा नदी जल परियोजना के कारण वर्षा के पानी की अधिक आवक को देखते हुए एक दम पानी को छोड़ने से भयंकर बाढ़ आयी जो परियोजना न होती तो इनका विनाशक रूप सामने नहीं आता। असम के मुख्यमंत्री ने इस बात को स्वीकार किया।

अरूणाचल प्रदेश की सरकार ने विकास के नाम पर इस तरह के विस्थापन की गलत नीति की हकीकत को स्वीकार करते हुए गत वर्षों में यह निर्णय दिया कि भविष्य में कोई बड़ी जल ऊर्जा परियोजना नहीं बनायी जायेगी। यद्यपि केन्द्र सरकार के दबाव के चलते उसे नहीं बनायी जायेगी। यद्यपि केन्द्र सरकार के दबाव के चलते उसे कितने समझौते करने पड़ रहे हैं, यह अलग बात है लेकिन विकास और विस्थापन की सच्चाई तो वहीं की वहीं रहेगी।

अंत में किसी भी राष्ट्र समाज का जो तबका विकास की दौड़ में पीछे रह गया है, कौन नहीं चाहेगा कि उसे आगे

बढ़ाया जाये। लेकिन जब इस प्रयत्न और प्रक्रिया के केन्द्र में किसी विकसित और चालाक वर्ग को लाभ पहुँचाने की साजिश की जाती हैं और पिछड़े तबके के विकास के नाम पर ढोल पीटा जाता है तो इसका पुरजोर विरोध सभी जागरूक इन्सानों को करना चाहिए। ऐसी स्थिति 'विकास के नाम पर विस्थापन' की वजह से उत्पन्न होती है न कि सही अर्थ में विकास के कारण जब दूरदृष्टि सम्मत विकास के लिए विस्थापन अनिवार्य हो तो पुनर्वास केन्द्रीय लक्ष्य बन जाता है जिसे पुनर्वास नीति के प्रावधानों के तहत पूरा किया जाना चाहिए।

१.४ औद्योगिक विकास और आदिवासी

आजादी के बाद देश में लोकतंत्र को सर्वसम्मति से स्वीकृत किया है। इसी लोकतांत्रिक प्रक्रिया के तहत सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर आदिवासी जनजातियों के प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण अपनाया गया। तत्कालीन समय में हाशिये पर रहे जनजातिय समूहों को स्वतंत्र भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था में शामिल करने के जो प्रयास हुए हैं, इसी के आलोक में देवेन्द्र सत्यार्थी गोंड जनजाति की जीवन स्थितियों को 'रथ के पहिए' उपन्यास में चित्रित करते हैं। इस उपन्यास का नायक आनंद है जो गोंड जनजाति की जीवन-स्थितियों में बदलाव लाने हेतु करंजिया जनपद में जाता है। वह गोंड आदिवासियों को भारतीय पहचान दिलाने की दिशा में कहता है - ''अभी तक सभ्यता से

कोसों दूर रहे गोंड आदिवासी की संस्तुति को समझने का सही समय है। उनकी संस्कृति को आधुनिक सभ्यता के हाथों मिटने से बचाया जाए। जंगल में रहने वाले आदिवासियों के साथ हमारी प्रगति जुड़ी हुई है। आवश्यकता है तो इस बात की कि हम गोंडो के जीवन में किसी प्रकार का विघ्न डाले बिना, उनके रहन-सहन में व्यर्थ परिवर्तन किये बिना, उनकी सहायता कर सकें, उनके जीवन में वृद्धि कर सकें। हमारे देश के जीवन में गोंड संस्कृति का समावेश भी उसी प्रकार हो जाएगा जैसे घर में अतिथि आता है अपने व्यक्तित्व को बचाते हुए अपने व्यक्तित्व की गरिमा को सभ्यता की रंगारंग जयमाला में मनके के समान पिरोते हुए।'' आनन्द के यह विचार इस बात को संकेतित करते हैं कि गोंड आदिवासी इस देश के निवासी हैं और उन्हें भारतीय जनतंत्र के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिए। उनकी संस्कृति और सभ्यता का विकास होना चाहिए। इसी तरह 'जंगल के फूल' उपन्यास के माध्यम से राजेन्द्र अवस्थी 'गोंड जनजाति के इतिहास का बोध कराते हैं। वे यह बताते हैं कि बस्तर के गोंड आदिवासियों का स्वाधीनता के खातिर सामूहिक रूप से अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष करना ही उनके भारतीय का सबसे बड़ा प्रमाण है। उपन्यास में अंग्रेजों के खिलाफ छेड़े गए संघर्ष के दौरान एक जगह जब गोंड जनजाति के चरित्र सुलकसाए और गुण्डा धूर की राजपरिवार के सदस्य लाल कलिंदार ंिसिंह से मुलाकात होती है तब हुई चर्चा में गुण्डा धूर स्वाधीनता की चेतना और गोंडों की भारत के प्रति

आस्था को प्रकट करता है। गुण्डा धूर ने कहा, ''मालिक, सिरकार हम पर भरोसा रखे। राजा से हमारा कोई विरोध नहीं हैं। महाराज रूद्रप्रतापदेव को दंतेहरी मइया खूब लम्बी उमर दे। हमारा विरोध तो गोरों से है, जिन्हें राजा ने हमारे बिना पूछे यहां बुला लिया है।'' आगे सुलकसाए कहता है, 'सोने की लंका इसी फूट से जल गई और अब हमारा देश जल रहा है।' तो गुण्डा धूर जबाब देता है, ''हाँ सुलक, सब जल रहे हैं, जिसे कमजोर देखा, गोरों ने उसे दबाया।'' यहाँ स्पष्ट है कि, स्वाधीनता आंदोलन के दिनों से ही गोंडो में देश के प्रति अपनेपन की भावना रही है।

आजादी के बाद देश की आर्थिक स्थिति को सुधारना अनिवार्य हो चुका था। इसीलिए औद्योगिक विकास की दिशा में नये सिरे से पहल की गई। उद्योग और व्यापार के क्षेत्र में गति लाने हेतु औद्योगिक नियमों, कल-कारखानों और व्यापारिक केन्द्रों का निर्माण किया जाने लगा। औद्योगिकरण की यह प्रक्रिया जिस तेजी से विकसित हुई है, उसी के साथ-साथ देश में पूंजीपतियों का एक ऐसा वर्ग उभरता रहा है, जिसने अपने आर्थिक स्वार्थो को सर्वोपरि मान लिया है। इसी मानसिकता के चलते देश की आम जनता, मजदूर तथा दलित-आदिवासी वर्ग के शोषण का सिलसिला भी तीव्र हुआ है। औद्योगिक विकास की इन गतिविधियों से आदिवासी-जनजातीय क्षेत्र अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। आजादी के बाद आदिवासी इलाकों में जहाँ एक ओर विकास के नाम पर भूखंड प्राप्ति की

प्रक्रिया घटित हुई, वहीं दूसरी ओर विकास की आड़ में आदिवासी वर्ग कंगाल भी होता गया। आदिवासी अंचलों में विकास की अवधारणा आदिवासियों के सपने पूरे नहीं कर सकी। इसे झारखंड के परिवेश में चिन्हित करते हुए विद्याभूषण बताते हैं कि ''आजादी के बाद के पचास वर्षो का अनुभव यह है कि झारखंड प्रदेश तथा जनजातीय अंचलों में आबादी को उजाड़कर भूखंड के विकास की योजना-दृष्टि औपनिवेशिक व्यवस्था की जरूरतें तो पूरी कर रही है, मगर मूलवासियों की अपेक्षाएँ अभी तक अभिशप्त है।'' अभिशप्त आदिवासियों की इन्हीं हालातों को संजीव 'धार' उपन्यास में चित्रित करते हैं। लिखते हैं कि 'सत्ता की साजिश अब सतह पर आ गई है और सारे अपराधी, गुण्डे और दागी लोग पुलिस एवं प्रशासन उद्योगों में घुस आए हैं।'' आदिवासी इलाकों में हुई गैर आदिवासियों की घुसपैठ के बारे में लेखक का यह मंतव्य आजादी के बाद हुए समूचे विकास की विडंबनाओं को भी संदर्भित करता है।

औद्योगीकरण से सम्बन्धित सरकारी स्तर पर जुड़ी हुई भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया विशेष महत्व रखती है। आजादी के बाद कई ऐसे कानून बने जिनके द्वारा आदिवासी इलाके में बड़े पैमाने पर भूखंड अधिग्रहित किये जा चुके हैं। आज भी बड़े उद्योगों के लिए सबसे ज्यादा जमीन आदिवासी जनजातियों के मौजूदा क्षेत्र से निर्धारित की जा रही है। इससे जनजातीय समाज अपनी ही जमीन से बेदखल हो रहे हैं। वहाँ पर

जो उद्योग बनाये जा रहे हैं, उसमें आदिवासियों को मजदूरी मिलना कठिन हो चुका है। जिन्हें मजदूरी मिलती है उनका भी पूंजीपतियों द्वारा बड़ी चालाकी से शोषण जारी है। इन स्थितियों में वे अपनी ही जमीन से बेदखल होकर अवसादग्रस्त जीवन जीने के लिए मजबूर हैं। उनके इस जीवन के संघर्ष अत्यन्त कारूणिक और कठोर हैं। इसे संजीव 'धार' उपन्यास के सूत्रधार शर्मा बाबू के माध्यम से यथार्थ के धरातल पर अभिव्यक्त करते हैं। शर्मा बाबू पार्टी की एक मीटिंग में अपने साथियों से संवाद करते हैं, ''सुनिये का ॅमरेड, आप कहते हैं कि सौंतालो को फिर से तीर-धनुष्य उठा लेना चाहिए। मगर किसके खिलाफ? दुश्मन कहीं नजर आए साफ-साफ तब न ! शोषको की पूरी व्यवस्था प्रकट में जनहितैषी का भ्रम पैदा करती है। वे नेता हो या अफसर, माफिया हो या ठेकेदार, कारखानेदार हों या दलाल सभी तो गरीबो और शोषितों के उद्धार में लगे दिखते हैं ! दुश्मन जितना मूर्त है, उससे ज्यादा अमूर्त। तीर कमान का निशाना क्या होगा ? उन्हें गोलबंद किया जाय तो किस आधार पर ? कैसे ? सिंह भूम, रांची, हजारीबाग, धनबाद, गिरीडीह से लेकर संथाल परगना तक कितने कल-कारखाने हैं उनमें कितने घुसेड़ सके हैं अपना मुँह ? जब उनके जीने का कोई आधार ही नहीं बचता तो आप लास बुलाते रहें, आगाह करते रहें, उन्हें शोषकों के जाल में जाने से कोई रोक नहीं सकता।'' सहजोद्रेक के रूप में मीटिंग में हुआ यह वार्तालाप जरूर है अपितु इसके मूल में समकालीन दौर तक आते-आते राजनेता, भू-

माफिया, ठेकेदार, सामंत तथा पूंजीपतियों द्वारा अपने आर्थिक हितों के लिए किये गए शोषण और अत्याचार के सूत्र निहित हैं। यही अवसादग्रस्त जीवन जीने के लिए मजबूर हुए आदिवासी समाज के दर्द और तकलीफांे का कठोर यथार्थ है। अतः जनजातीय समूहों के बारे में इस बात को नकार नहीं सकते कि आदिवासी इलाकों में औद्योगीकरण की रफ्तार बड़ी तेज रही है। जिसने आदिवासियों को कथित विकास के नाम पर विस्थापन और नये शोषण चक्र में डाल दिया है।

सन् १९९१ के बाद देश में भूमंडलीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया बड़ी तेजी से घटित हुई। जिसके चलते आदिवासियों की समस्याएँ कम होने के बजाय अधिक तीव्रता धारण करती रही हैं। अगर देखा जाए तो भूमंडलीकरण के दबाव और निजीकरण की नीतियों ने आदिवासी समाज पर सिर्फ प्रतिकूल प्रभाव ही नहीं डाला है, बल्कि वे बड़ी तादात में विकास के नाम पर विस्थापित भी हुए हैं। निजीकरण ने आदिवासी क्षेत्र में बाजारवाद को बढ़ाया है, उससे शिक्षा दवाई आदि सभी चीजें महंगी हो गई। आदिवासियों को अपने ही इलाकों के निजी संस्थानों में नौकरी आदि उन्नति के अवसर प्राप्त नहीं हुए हैं। इसीलिए उनका रोजगार भी घटा है। भूमंडलीकरण के दौर में रोजगार की अनुपलब्धता और बढ़ती बेरोजगारी ने आदिवासियों के लिए जीविका का कोई विकल्प नहीं छोड़ा है। परिणामतः वे अपनी विकट परिस्थितियों में संघर्ष के लिए

हथियार उठाते हैं। रमणिका गुप्ता कहती है कि, ''भूमंडलीकरण की मुख्य समस्या है कि यह केवल पूंजी को देश से बाहर जाने देता है, न कि श्रमिक वर्ग को। इसके चलते बेरोजगारी बढ़ती है। आदिवासियों के पास जीविका का कोई विकल्प नहीं छोड़ा है। परिणामतः वे अपनी विकट परिस्थितियों में संघर्ष के लिए हथियार उठाते हैं। रमणिका गुप्ता कहती है कि, ''भूमंडलीकरण की मुख्य समस्या है कि यह केवल पंूजी को देश से बाहर जाने देता है, न कि श्रमिक वर्ग को देश से बाहर जाने देता है, न कि श्रमिक वर्ग को। इसके चलते बेरोजगारी बढ़ती है। आदिवासियों के पास जीविका का कोई विकल्प नहीं रहा, फलतः वे अपनी बात सुनाने के लिए हथियार उठाते हैं। उनकी धरती में कोयला है, पर उन्हें कोयला चोर बनाया जा रहा है। जो हैं, उन्हें पकड़ा ही नहीं जाता। आदिवासी को चूल्हें में कोयला जलाने पर अपने ही घर में चोर बना दिया जाता है।'' बांसगड़ा की जमीन में कोयला है पर वहां के संथालों को उसे बेचने की इजाजत नहीं है। अगर वे अपनी आजीविका के लिए कहीं से कोयला प्राप्त करके बेचते हैं तो पुलिस उन्हें बेचने के जुर्म में पकड़ती है और जेल में ठूंस देती है। कथा के एक प्रसंग में मैना और मंगर आजीविका के लिए एक ठेला खरीदकर कोयला बेचने लगते हैं। वे जिस जमीन से कोयला निकालते हैं उसे जमीन पर परम्परा से मालिकाना हक मैना के पिता टेंगर का है। लेकिन पुलिस उन्हीं पर ही चोरी का इल्जाम लगाती है। जबकि इलाके के माफिया और पूंजीपति महेन्दर बाबू और उनका गिरोह

अवैध तरीके से कोयले का व्यापार करते हैं। वे अपने वर्चस्व के बलबूते पर स्थापित की गई कोयला खदान से ट्रक भर-भरके चोरी से बाहर भेजते हैं, वह भी बिना किसी सरकारी टैक्स का भुगतान किए। लेकिन इन्हें पुलिस कभी पकड़ती नहीं। मैना सहित अन्य संथालों की चूल्हें में कोयला जलाने और वैध तरीके से 'जनखदान' चलाने पर अपने ही घर और जमीन में चोर घोषित किया जाता है।

आदिवासी अंचलों में खनिज संपदा की प्रचुरता के कारण कई औद्योगिक परियोजना और खदानों का निर्माण हुआ। इसी के साथ ही आदिवासियों में अपनी पहचान के डूब जाने का खतरा पैदा होने लगा। पहचान खत्म होने के दर्द ने अनेक आन्दोलनों को नयी हवा और गति दी। संजीव बताते हैं कि किस तरह महेन्द्र बाबू और पूंजीपतियों ने संथालों की जमीन पर अवैध कोयला खदान बनाने के लिए षड़यंत्र किये हैं। उन्हें अपने जाल में फँसाया और जमीन से बेदखल किया है। माफिया, पुलिस और सरकारी अधिकारियों ने आदिवासियों को लूटा है। इस तरह बाहरी दबावों, अन्याय-अत्याचारों तथा वर्चस्व के कारण संथालों के सामाजिक-आर्थिक जीवन की स्थितियाँ अत्यन्त विकट बनती गई। संथाल आदिवासियों के जमीन पर गैर आदिवासियों के कब्जा करने की स्थिति का चित्रण शर्मा बाबू के शब्दों में है, ''मैना, टेंगर महात्मा ने अपनी जमीन तेजाब की फैक्टरी को दे डाली है और कल धीरे-धीरे इन

सौंतोलों की जमीन भी चली जायेगी। तेजाब की फैक्टरी, बाद में कोयला खदान का निर्माण किया और आदिवासी मजदूरों पर अत्याचार किये। मैना द्वारा उसका विरोध करने पर उसे पुलिस की सहायता से जेल में भी भेज दिया जाता है।

संथालों के साथ जो व्यवहार महेन्दर बाबू ने किये हैं उसका परिणाम यह होता कि संथाल लोग मैना के नेतृत्व में संगठित होकर आन्दोलित हो जाते हैं। इनके संगठित संघर्ष का प्रतिरूप है- जनखदान। संथाल आदिवासियों द्वारा जनखदान से जीवन यापन के लिए आवश्यक कोयला लेकर बाकी कोयला राष्ट्र को सौंपा जाता है। उनकी मेहनत से कुछ ही दिनों में राष्ट्र को समर्पित करने के लिए कोयले का ढेर संचित होता है। उसे ले जाने के लिए शर्मा बाबू कई बार सरकार को पत्र लिखते हैं। लेकिन उसकी दखल कोई नहीं लेता। सरकार की ओर से जो अधिकारी आते वे भ्रष्ट मानसिकता के होते हैं। जनखदान की स्थिति, फाईल, रजिस्टर आदि का मुआयना करते हैं। मुआयना करते समय पुलिसकर्मी रिश्वत मांगते हैं। रिश्वत न मिलने पर सबकुछ उचित होने के बावजूद झूटी रिपोर्टिंग करने को कहते हैं। पुलिसकर्मी और सरकारी अधिकारियों के इस व्यवहार से होकर विद्रोही तेवर में दुलाल मण्डल कहता है, ''हिया दस दिन से एक भी आदमी मजूरी नहीं लेता। घर से खा-पी के इसको खड़ा किया और आज कोयला निकालने का बखत आया

तो इनको दे दों बीस हजार। जा के मूर्गा, बोतल और रंडी के साथ मौज करें, वाह रे !'' आखिर में जब जनखदान का राष्ट्रीयकरण करने का तय होता है तो महेन्द्र बाबू जैसे पूंजीपतियों से रिश्वत लेकर जनखदान को तहस-नहस किया जाता है।

सहायक ग्रंथ-

१- अभय कुमार दुबे (संपा॰), आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-२००८, पृ॰-४१३

२- मीरा गौतम (प्रधान संपा॰), अंतिम दो दशकों का हिंदी साहित्य, डॉक्टर रोहिणी अग्रवाल, आलेख- स्त्री विमर्श के संदर्भ में पिछले दो दशकों का हिंदी उपन्यास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण-२००८, पृ॰-९९

३- रमणिका गुप्ता (संपा॰), आदिवासी कौन, आलेख- बाहरु सोनवणे, आदिवासी हिंदू नहीं है, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति,२०१४, पृ॰-२३

४- रमणिका गुप्ता (संपा॰), आदिवासी कौन, आलेख- महादेव टोप्पो, कुचले जाते आत्म सम्मान के विरुद्ध, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति,२०१४, पृ॰-४४

५- डॉक्टर रमेश संभाजी कुरे (संपा•), आदिवासी साहित्यः विविध आयाम आलेख, प्रा• डॉक्टर हाशमबेग मिर्जा, समय की दस्तक देती आदिवासी कविता, विकास प्रकाशन, कानपुर, संस्करण-२०१३, पृ•-३५

६- रमणिका गुप्ता (संपा•), आदिवासी कौन, आलेख- हरीराम मीणा, भारतीय मिथक, इतिहास और आदिवासी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति,२०१४, पृ•-१४४

७- रमणिका गुप्ता (संपा•), आदिवासी कौन, आलेख- शिमरी चान लुई, सी आर बिजोम, रत्नाकर भेंगरा, नागा राष्ट्रवाद का उदय, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति,२०१४, पृ•-७९

८- रमणिका गुप्ता , आदिवासी अस्मिता का संकट, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली,२०१३, पृ•-३९

९- डॉक्टर सुरेंद्र कुमार नायक, उलीहातू(कविता), आदिवासी कविता, अंक अरावली उद्घोष पत्रिका, पृ•-९

१०- नागार्जुन, वरुण के बेटे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति-२००८, पृ•-२७

११- रणेन्द्र ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-२०११, पृ•-४३

१२- रमणिका गुप्ता (संपा•), आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, कविता महादेव टोप्पो, 'जंगल का कवि' वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- २००२, पृ•-४७

१३- तेजिंदर सिंह, काला पादरी, नेशनल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२००५, पृ•-४४,४५,४८,१०६

१४- रवि कुमार गोंड (संपा•), वर्तमान समय में आदिवासी समाज, भूमिका- प्रोफेसर हेमराज मीणा, वांङ्मय बुक्स, अलीगढ़, प्रथम संस्करण- २०१२, पृ•-६

१५- ईश्वर दोस्त, जनसत्ता, २९ नवम्बर, २००९

१६- जनसत्ता, दिनांक, २४/०९/२०११

१७- देवेंद्र सत्यार्थी, रथ के पहिए, पृ•-५४

१८- राजेंद्र अवस्थी, जंगल के फूल, पृ•-२२६,२२७

१९- विद्याभूषण, झारखंड और हिंदी उपन्यास (आलेख), हंस, अगस्त, १९९९, पूर्णांक-१५६, अंक-०१, पृ•-५९,

२०- संजीव, धार, पृ•- १३०,६७,१४३

२१- बदलाव के लिए प्रतिबद्ध है आदिवासी साहित्य (रजनी गुप्त द्वारा लिखा गया साक्षात्कार), कथाक्रम, अक्टूबर-दिसंबर, २०११, अंक-५०, पृ•-२१